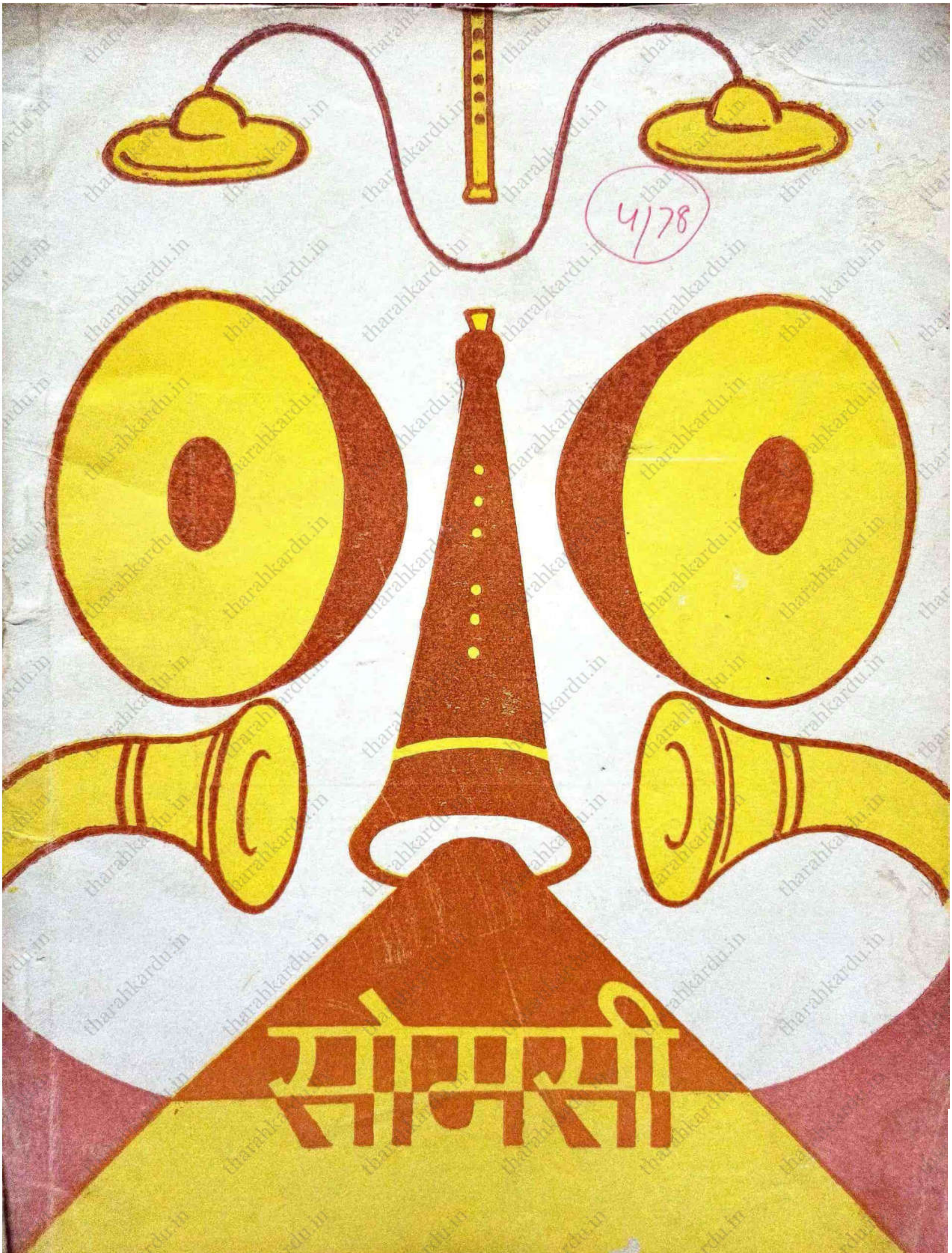
4/78
सोनसी

श्री यशपाल और श्री देसराज डोगरा, सुजानपुर टीरा, (25 अक्तूबर, 1967)

सोमसी

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का

त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष 4 अप्रैल, 1978 अंक 2

प्रबन्ध-सम्पादक
एच० सी० पराशर

सम्पादक
डा० बंशी राम शर्मा

सहयोगी
सरोज शर्मा

आवरण
ओम प्रकाश

प्राप्ति स्थान :
हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल, शिमला-१७१००६

सोमसी

वर्ष 4 अंक 2

जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य।

लेखक के विचारों तथा दिए गए तथ्यों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं।

प्रकाशित रचनाओं को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में उद्धृत करने के लिए सचिव, हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल, शिमला-9 की अनुमति अनिवार्य है।

वार्षिक चंदा—१२ रु०

एक प्रति—३ रु०

विषयानुक्रमणिका

क्रमांक विषय	लेखक	पृष्ठ
1. सम्पादकीय		(i)
2. हिमाचल का प्राचीन राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास	—डा० लालता प्रसाद पाण्डेय	1
3. वैदिक सोमरस और कुल्लुई सूर	—श्री मौलू राम ठाकुर	16
4. हिमाचल तथा सामाजिक सुधार लहर	—डा० एम० एस० आहलूवालिया	22
5. कांगड़ी लोकगीतों में नायिका-भेद	—डा० मनोहर लाल	30
6. तिब्बत और बुशहर की चिर मैत्री	—श्री पी० एन० सेमवाल	37
7. गद्दियार क्षेत्र का इतिहास	—डा० मोहन लाल गुप्ता	44
8. पशु बलि यज्ञ-त्यौहार-परम्पराएं	—श्री तुलसी रमण	59
9. बिलासपुर का राजकवि—सुखदेव सामुद्रिक	—डा० श्रीकान्त प्रत्यूष गुलेरी	67
10. Studies in the Systematics of Himachali Linguistics	—Dr. Siddheshwar Varma	71
11. शब्दश्री		73
12. हिमाचली लोकगीतों और लोक कविताओं में कृषक जीवन की झलकियां	—शशी रानी शर्मा	77
13. यशपाल जयन्ती समारोह की कार्यवाही का शेषांश		80
14. बिलासपुर गोष्ठी में व्यक्त विचारों का सार		86
15. उपस्थापन—सांस्कृतिक विघटन : एक मनःस्थिति	—एच० सी० पराशर	91

सम्पादकीय

संस्कृति का सम्बन्ध मानव संस्कारों से है। संस्कार अविच्छिन्न तथा गतिशील जीवनक्रम का परिणाम हैं। व्यक्तिगत अनुभवों को तब तक 'संस्कृति' की संज्ञा नहीं दी जा सकती जब तक उनका सम्बन्ध सामाजिक अन्तर्मन से न हो। सामाजिक क्रिया-कलापों को ही संस्कृति कहा जाता है। इतिहास भी सामाजिक अनुभव है परन्तु उसमें मानवीय संस्कारों की झलक नहीं होती, मात्र घटनाक्रम होता है। संस्कृति का विकास क्रमिक तथा दीर्घ अनुभव-परम्परा के अन्तर्गत होता है अतः वह इतिहास से भी अधिक पुरातन, सम्पन्न तथा सत्यमूलक होती है। इतिहास का सम्बन्ध भी अतीत की घटनाओं से होता है परन्तु संस्कृति रूपी वृक्ष की जड़ें अतीत में होते हुए भी उसकी कोपलें वर्तमान को छूती हैं तथा वह वर्तमान में पल्लवित-पुष्पित होता है अतः संस्कृति का बीज वपन होता रहता है। उसके मूल में परिवर्तन आए बिना उसका स्वरूप नित नवीन रहता है।

यही कारण है कि मात्र ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन से हम समग्र संस्कृति का अध्ययन नहीं कर सकते। 'एक राजा था, वह अमुक मैदान में वीरता से लड़ा' इतिहास के लिये महत्वपूर्ण कड़ी हो सकती है परन्तु सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से यह वाक्य मूल्यवान नहीं हो सकता। प्राचीन काल की धार्मिक, सामाजिक तथा मान्यताओं से सम्बन्धित परम्पराओं का अवलोकन करने पर भी बहुत कुछ ऐसा रह जाता है जिसका सम्बन्ध चिन्तन-धरातल से होने के कारण उसे सांस्कृतिक दृष्टि से आवश्यक माना जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति के व्यापक धरातल को जानने-समझने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ हमें लोक-परम्पराओं का गहन अध्ययन भी प्रस्तुत करना होगा।

पत्रिका के प्रस्तुत अंक में सांस्कृतिक अध्ययन की दिशा में कुछ नए प्रयोग सामने आए हैं। हिमाचल प्रदेश के इतिहास पर पुरातात्विक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है, जो इतिहास के अध्ययन की महत्वपूर्ण तथा व्यावहारिक विधा है। 'सोम' वैदिक आर्यों का महत्वपूर्ण पेय था। इन्द्र ने सोम पी कर शम्बर की निन्नानवे पुरियों को नष्ट किया था। सोम को दही के साथ मिश्रित करके पीने का प्रचलन था, ऐसा आभास ऋगवेद (9–11–6) से मिलता है। 'सोम' क्या पेय था इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाए गए हैं परन्तु कुल्लू क्षेत्र में वर्तमान समय में भी तैयार किए जाने वाले 'सुर' अथवा 'सूर' के साथ इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है, इस पर गवेषणापूर्ण लेख इस अंक में प्राचीन संस्कृति के अध्येताओं की रुचि को आकृष्ट कर सकता है। तिब्बत और बुशहर की चिरमैत्री, गद्दी जन-जाति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित बलि-प्रथाओं पर संकलित सामग्री भी रुचिपूर्ण तथा सारगर्भित है।

आशा है सोमसी के इस अंक में प्रबुद्ध पाठक सांस्कृतिक इतिहास की दिशा में सोचने के लिए दुर्लभ तथा महत्वपूर्ण विचार सामग्री पायेंगे।

—बंशी राम शर्मा

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी

शिमला

हिमाचल प्रदेश की ललित कलाओं परम्पराशील संस्कृति प्रादेशिक भाषा पहाड़ी व उसकी उप भाषाओं तथा हिन्दी संस्कृत उर्दू भाषाओं और उनके साहित्यों के विकासार्थ

राज्य सरकार द्वारा स्थापित स्वायत संस्था

हिमाचल का प्राचीन राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास

(प्राचीनतम युग से लेकर गुप्त-काल से पूर्व तक)

—डा0 लालता प्रसाद पाण्डेय

हिमाचल प्रदेश का प्राचीनतम इतिहास भारत के अन्य भागों की तरह प्रायः अज्ञात ही है । वैसे एशिया के दक्षिणी भूखण्ड में प्रारम्भिक जीवन के प्रमाण प्रायः इसी क्षेत्र से अब तक प्रकाश में आये हैं, क्योंकि जहां आजकल हिमालय की पहाड़ियां और घाटियां आबाद हैं, वहां अत्यन्त अज्ञात अतीत में धरातल था और पानी से भरी दलदली ज़मीन थी, जो वनस्पतियों के उगने तथा बढ़ने के लिए उपयुक्त होती है। इसीलिए इस क्षेत्र से भूगर्भशास्त्रियों को अनेक ऐसे फ़ासिल्ज़ (पत्थरयुक्त हड्डियां और जीवावशेष) प्राप्त हुए हैं, जिनके जीवन का काल आज से लगभग 200 लाख वर्ष प्राचीन माना जाता है । पंजाब विश्वविद्यालय के भूगर्भशास्त्र विभाग ने तथा केन्द्रीय सरकार के भूमि सर्वेक्षण विभाग ने इस क्षेत्र से जो फ़ासिल्ज ढूंढ निकाले हैं, उनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि सम्पूर्ण हिमाचल प्रदेश जिसमें शिवालिक पर्वत-श्रेणियां स्थित हैं, अत्यन्त प्राचीन कालीन जीवों का शरण स्थान था, जिनमें हाथी, गैंडा, घोड़ा, मगर तथा अन्य दलदली ज़मीनों और ऐसे जंगली प्रदेशों में होने वाले जीव गिनाये जा सकते हैं ।

ऐसे ही भौगोलिक और आर्थिक वातावरण में इस क्षेत्र के प्राचीन मनुष्य ने यहां जन्म लिया, जिसके विषय में हमें अभी अधिक ज्ञान नहीं है । हिमाचल के बिलासपुर क्षेत्र में स्थित हरितल्यांगर के पास से ऐसे मानव का फ़ासिल-रूप मिला है, जिसे नृतत्वशास्त्रियों ने 'रामापिथेकस' नाम दिया है, जिससे मानव-जाति का सम्भवतः जन्म हुआ था । इसके जीवन की तिथि लगभग 140 लाख वर्ष पूर्व मानी गई है । अतएव हम कह सकते हैं कि हिमाचल प्रदेश का इतिहास भारत का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव-जाति का इतिहास बताने की क्षमता रखता है ।

हिमाचल में पाषाणकालीन संस्कृतियों के भी अवशेष ढूंढ निकाले गये हैं । 1955 ई0 में प्रो0 बी0 बी0 लाल ने कांगड़ा क्षेत्र में बानगंगा और उसकी सहायक नदियों के किनारे पुरातात्विक सर्वेक्षण किया और कांगड़ा तथा गुलेर नामक स्थानों के पास स्थित तथा उपर्युक्त नदी के किनारे पर बने प्राचीन स्तरों से लगभग 50 ऐसे प्रस्तर निर्मित अस्त्र ढूंढ निकाले, जिन्हें बनावट और टैक्नीक के आधार पर पूर्व पाषाण-कालीन मानव का हथियार माना जाता है । बाद में पुनः दकन कालेज के पुरातत्व के प्रोफ़ेसर आर0 वी0 जोशी तथा पोलैण्ड के कुछ पुरातत्वविदों ने इसी क्षेत्र का प्रागैतिहास जानने के लिए खोजबीन की । इन्होंने प्रो0 लाल की उपलब्धियों की पुष्टि की और कुछ नये प्रस्तर निर्मित हथियार ढूंढे ।

बाद में सोलन जिले में स्थित नालागढ़ क्षेत्र में सिरसा सतलुज घाटी में पुरातात्विक और नृतत्व शास्त्रीय सर्वेक्षण किया गया, जिसके परिणामस्वरूप प्रस्तर औज़ार मिले जो मांस काटने

के लिए प्रयुक्त किये जाते थे । इनमें बापर्स, स्क्रैपर्स तथा फ़्लेक्स नामक औज़ार प्रमुख है जिनमें अश्युलियन विशेषतायें पाई जाती हैं । इसी तरह सिरमौर ज़िले में स्थित सुकेती खड्ड में तथा नाहन और नादान के बीच कुछ हद तक पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया है । प्रो0 आर0 वी0 जोशी और भूगर्भशास्त्रीय सर्वेक्षण विभाग ने मिलकर यहां की मानव बस्तियों को जानने का प्रयत्न किया और उनके उपकरणों की खोज की । यहां से भी उपयुक्त औज़ार मिले हैं । इन खोजों से इस क्षेत्र की प्राचीनतम संस्कृति पर काफ़ी सीमा तक प्रकाश पड़ा; क्योंकि इन उपकरणों को प्रायः मध्यपाषाण काल के प्रारम्भ में होने वाले मनुष्यों का अस्त्र माना गया है । कुछ विद्वानों ने इनकी समानता पाकिस्तान में स्थित पोटवार क्षेत्र की सोहन नदी घाटी से प्राप्त पूर्वपाषाण कालीन हथियारों से की है । यह निर्णय थोड़ा सा विवादास्पद है, क्योंकि यह समानता अस्त्रों की टेक्नीक और बनावट के आधार पर ही स्थापित की गई है । परन्तु इससे इतना सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र के मैदानी भागों से लगी पहाड़ी नदी घाटियों में प्रस्तर कालीन भारतीय मानव रहता था। वह आसपास उगने, बढ़ने वाली वनस्पतियों तथा जंगली जानवरों से अपनी ज़रूरत की चीज़ें प्राप्त करता था । छोटे-बड़े सभी प्रकार के जानवर उसके लिए उपयोगी थे । कुछ को वह प्रस्तर—निर्मित हथियारों से मारता था और कुछ बड़े तथा खौफ़नाक जानवरों को भगाकर तथा पहाड़ों से गिराकर या उन्हें दलदल में फंसा कर मारता था । फिर अपने हथियारों से उनके चमड़े को छीलता था और उनके मांस को अलग करता था । वही उसका भोजन था । पीने का पानी नदियों से मिलता था और आसपास हथियार बनाने के लिए मजबूत पत्थरों की कमी न थी । नदी घाटी और पहाड़ की कन्दरायें उसके रहने और सोने के लिए उपयुक्त थीं । वे जहां एक ओर उसे जंगली जानवरों से बचाती थीं, वहीं दूसरी ओर वे शीत, वर्षा एवं धूप से भी उसकी रक्षा करती थीं। सम्पूर्ण क्षेत्र न तो इतना गर्म था कि वह वहां रह ही न सके और न इतना शीतल था कि वहां पेड़-पौधे ही न उग सकें । इसी भौगोलिक वातावरण में प्राचीन मानव ने सम्भवतः यहां रहना पसन्द किया । दुर्भाग्य से उसके रहने के स्थान अर्थात् गुफाएं अभी प्रकाश में नहीं आई हैं अतएव उसकी संस्कृति के अन्य पक्षों पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अनुमानतः अन्य पाषाण-कालीन संस्कृतियों से यह अधिक भिन्न न था ।

हिमाचल से नये पाषाणयुग की संस्कृति का ज्ञान अभी नहीं मिला है । सम्भवतः मनुष्य ने जब पशुपालन और खेती करना सीखा तो वह पड़ोस या दूर में स्थित मैदानी भागों में चला गया जहाँ उसने अपनी एक नई दुनिया को जन्म दिया । कुछ भी हो, हिमाचल के प्राचीन इतिहास की यह कड़ी अभी तक नहीं जुड़ पाई है और साक्ष्यों के अभाव में सम्पूर्ण स्थिति अन्धकार में है । कुछ ऐसी स्थिति अभी यहां के उस काल की भी है, जिसमें पड़ोस के मैदानी भागों में वह संस्कृति जन्मी और विकसित हुई जिसे हम सैन्धव घाटी संस्कृति कहते हैं । ऐसा लगता है कि पश्चिमोत्तर भारत, अफ़गानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में जब ग्रामीण बस्तियां पनपने लगी थीं और देहाती जीवन एवं संस्कृतियों का ही सूत्रपात होने लगा था, तो शायद भारत के ये क्षेत्र भी किसी न किसी रूप में मनुष्यों से आबाद रहे । तदनन्तर जब सिन्धु नदी तथा उसकी सहायक नदियों तथा अन्य अनेक भागों और स्थानों में नगरीय संस्कृति का जन्म हुआ और हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा तथा लोथल जैसे स्थानों पर धरातल पर विकसित होने वाली उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हुआ तो हिमाचल की ये घाटियां सम्भवतः चरवाहों की श्रेणी में गिनी जाने वाली मानव-जातियों से बसी रहीं और सभ्य कही जाने वाली संस्कृतियों से कोसों दूर रहीं । वास्तव में इस स्तर की हिमाचल संस्कृति का ज्ञान हमें प्रायः नहीं के बराबर है, और कुछ भी कहना केवल अनुमान करना ही है।

वैदिक काल (लगभग १६०० ई० पूर्व से लेकर ७०० ई० पू० तक)

मालूम होता है । इससे यहां की जल-
वैदिक साहित्य में विशेषकर ऋग्वेद इस दृष्टि से अधिक उपयोगी मालूम होता है । इससे यहां की जल-
वैदिक साहित्य में विशेषकर ऋग्वेद इस दृष्टि से अधिक उपयोगी प्रकाश पड़ता है । यह यहां की अधिकांश नदियों
व्यवस्था, वनस्पति जगत और विषयान्तर से अर्थ-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है । यह यहां की अधिकांश नदियों

से परिचित है । रावी, सतलुज और व्यास नदियां जो इस प्रदेश से होकर बहती हैं, इसमें वर्णित हैं और कहीं-
कहीं यहां पनपते और फूलते-फलते उपयोगी वृक्षों का भी इसमें वर्णन है । उदाहरणार्थ इसमें इस प्रदेश के कुल्लू
और लाहौल में उगने वाले कुष्ट नामक पौधे का उल्लेख मिलता है । यहां यह कहना आवश्यक है कि यह पौधा
हिमाचल के इन क्षेत्रों में अब भी अत्यधिक मात्रा में मिलता है और औषधि के काम में आने वाला इसका तेल
अत्यधिक मात्रा में विदेश भेजा जाता है, जिससे यहां के निवासियों को द्रव्यलाभ होता है । इस तरह आर्थिक
दृष्टि से यहां की संस्कृति में इसका बड़ा योगदान है, सम्भवतः यही हाल प्राचीन काल में भी था। इन क्षेत्रों में
लोग इससे अपना जीवन-निर्वाह कुछ अंश में अवश्य करते थे । इसी तरह अन्य पेड़-पौधे भी तत्कालीन अर्थ-
व्यवस्था में मदद करते थे । लकड़ी का व्यापार सम्भवतः कुछ हद तक किया जाता था ।

वैदिक ग्रन्थों में ऊनी कपड़ों तथा भेड़-बकरियों का भी उल्लेख है । इस पेशे के लिए ये पहाड़ी क्षेत्र अधिक
उपयुक्त थे और भेड़-बकरियों के पालने के अतिरिक्त अन्य कोई व्यवसाय उनके लिए अधिक सुगम नहीं
था । आज भी इस प्रदेश के अधिकांश क्षेत्रों में गद्दी आदि जनजातियों का यही प्रधान पेशा है। असम्भव नहीं
है कि ये जननान्तर से इन्हीं क्षेत्रों में रहते आये हैं ।

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में हिमाचल के संदर्भ में अधिक सूचनाएं नहीं मिलती हैं । वह यहां की राजनैतिक दशा के विषय में प्रायः मौन ही है । अनुमानतः संस्कृति के कुछ पक्षों का विकास हो चुका था और शासन की कुछ इकाइयां और विधियां उत्पन्न हो गई थीं, जिसकी सूचनायें हमें वेदोत्तर-कालीन साहित्य से मिलती हैं, जिसमें पाणिनि की अष्टाध्यायी अधिक सहायक मालूम होती है ।

इस ग्रन्थ से हिमाचल के इतिहास के सम्बन्ध में पहली बार अधिक विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध होती है । इसमें त्रिगर्त नामक जनपद का उल्लेख किया गया है, जिसमें आधुनिक कांगड़ा और आसपास का क्षेत्र सम्मिलित था । ऐसा लगता है कि उत्तरवैदिक कालीन महाजनपदों के काल में इस क्षेत्र में भी एक छोटे से जनपद का विकास हो चुका था । इस में जाति के आधार पर सम्भवतः एक लघु राज्य की स्थापना की गई थी, जिसमें कांगड़ा के पहाड़ी भू-भाग के साथ-साथ कुछ मैदानी भाग भी सम्मिलित थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि महाभारत में वर्णित सुशर्मचन्द्र यहां का सबसे प्राचीन शासक था, जिसे त्रिगर्त राज्य का संस्थापक माना गया है।

महाभारत में कुछ अन्य गणराज्यों का भी उल्लेख किया गया है जो अत्यन्त प्राचीन काल से इस क्षेत्र में विकसित हो रहे थे । इस साक्ष्य में त्रिगर्तों का उल्लेख यौधेयों, शिवियों, राजन्यों तथा कुछ अन्य गणराज्यों के साथ किया गया है । इसके अनुसार नकुल ने शिवियों और मालवों के साथ इन पर भी विजय प्राप्त की थी । यह स्थिति सम्भवतः सातवीं शताब्दी ई0 पू0 या उस से भी पूर्व महाभारत-युद्ध के काल में थी, जो साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर दसवीं सदी या उससे कुछ पूर्व घटी ऐतिहासिक घटना मानी जाती है । वास्तव में हिमाचल का प्रत्येक भाग पाण्डवों से सम्बन्धित पुराकथाओं, जनश्रुतियों और पुरातात्विक स्थानों से भरा पड़ा है जिससे यह मालूम होता है कि उत्तर वैदिक काल में जब जंगलों को काट कर कृषि के लिए नये-नये क्षेत्र प्राप्त करने की कोशिश की जा रही थी और उत्तरभारत के गंगा यमुना दुआबे में नगरीय संस्कृति और साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था, तथा साथ ही साथ, कहीं-कहीं अर्द्धगणतान्त्रिक राज्यों का विकास और विस्तार हो रहा था, तभी इस क्षेत्र में और विशेषकर उससे लगे हुए पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के मैदानी भागों में भी संस्कृति का विकास हुआ था । ऐसा लगता है कि यहां उस समय की प्रशासन एवं राजसत्ता की उत्पत्ति और विकास के साथ साथ सभ्यता के अन्य पक्षों का उद्भव और विकास हुआ ।

इन राज्य इकाइयों—विशेष कर त्रिगर्त राज्य के सही निर्माण, प्रशासन-पद्धति और स्वभाव के विषय म कुछ कहना प्रमाण स्वरूप नहीं है। ऐसा लगता है कि यह एक अर्ध-प्रजातन्त्रात्मक जनपद था, जिसका गणाधीश यहां का प्रधान शासक होता था। हो सकता है कि प्रारम्भ में यह राजतन्त्रात्मक रहा हो और बाद में अन्य छोटी छोटी शक्तियों के उद्भव के कारण इसे गणतन्त्रात्मक रूप लेना पड़ा हो। वैसे बाद में मौर्योत्तर काल में यहां लघु गणतन्त्रात्मक राज्य का विकास हुआ था, जिसके सिक्के उसे "त्रकत जनपद" (त्रिगर्त जनपद) कहते हैं। यह बहादुर लोगों का एक जनपद था, जिनका पेशा ही अस्त्र-शस्त्र चलाना था। पाणिनि त्रिगर्त के लोगों को "आयुधजीवी" कहता है। इससे मालूम होता है कि त्रिगर्त के लोग लड़ने के शौकीन होते थे। वे वीर होते थे और आस पास के राज्यों में जाकर उनकी फौज में नौकरी करते थे। यह असम्भव भी नहीं है, क्योंकि जिन क्षेत्रों में कृषि के लिए अधिक जमीन नहीं होती है और जीविका के अन्य साधन कम या नहीं होते हैं, वहां के लोग अन्य क्षेत्रों में जाकर नौकरी करते हैं और अवसर पाकर फौज में भरती हो जाते हैं।

पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में त्रिगर्तषष्ठ का उल्लेख किया है जिसका अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे एक संघराज्य के लिए प्रयुक्त शासन इकाई माना है, जिसमें त्रिगर्त का जनपद प्रधान था। यह अर्थ सत्य के निकट जान पड़ता है, क्योंकि यहां की पर्वतीय घाटियों में अनेक लघुराज्यों के विकास की जोरदार संभावना है और महाभारत के उपर्युक्त वर्णन से वह कुछ सही भी मालूम होता है। संभवत: ज्ञात कुलूतों और कुनिन्दों के प्राचीन पूर्वज यहां राज्य कर रहे थे। कुल्लू क्षेत्र में निश्चित रूप से कोई राज्य इकाई थी, क्योंकि यहां का सांस्कृतिक वातावरण सुचारु रूप से विकसित हो रहा था जिसमें भगवान बुद्ध ने बाद में जाकर अपना योगदान दिया।

कुनिन्दों के भी राज्य की स्थापना सातवीं शताब्दी ई० पू० में या उसके कुछ पूर्व हो चुकी थी। यह राज्य संभवत: इस काल में भी सतलुज नदी के पूर्व और यमुना नदी के दोनों ओर स्थित था जिसमें आधुनिक हिमाचल का सिरमौर क्षेत्र सम्मिलित है। इस राज्य की राजधानी सम्भवत: सुहन थी जहां भगवान बुद्ध गये थे, जैसा कि ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से हमें मालूम होता है। कॅनिघम ने इस स्थान को जगाधरी के पास स्थित 'सुध्न' माना है जो हमारी समझ से गलत मालूम होता है। क्योंकि ह्वेनसांग द्वारा वर्णित सुघन्न नामक राज्य की राजधानी यमुना के ठीक पश्चिमी किनारे पर ऐसे स्थान पर स्थित थी, जो काल्सी नामक स्थान से दूर नहीं था। हमारा अनुमान है कि यह स्थान सिरमौर जिले की कायरदा दून घाटी में स्थित था। वह आधुनिक पौन्टा साहिब नामक स्थान के समीप ही कहीं स्थित होना चाहिए। हो सकता है कि वह सिरमौर की सीमा के पास ही हरियाणा में यमुना नदी के किनारे कहीं स्थित रहा हो।

'त्रिगर्त षष्ठ' राज्यों में संगठित दूसरा राज्य सम्भवत: शिवियों का था, जिसका उल्लेख महाभारत में किया गया है। इसका उल्लेख हम ऊपर पहले ही कर चुके हैं। साथ ही निकटवर्ती पंजाब के कुछ भागों में भी विकसित जनपद इस संघ राज्य के हिस्से थे, जिन में औदुम्बरों को भी गिनाया जा सकता है। अन्य दो जनपद सम्भवत: कालछूट और युगन्धर थे, जिनके विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है। इन सभी जनपदों को पाणिनि ने "पर्वत आयुध जीवो संघ" कहा है जो हथियार चलाने में दक्ष होते थे और लड़भिड़ कर तथा पर्वतीय क्षेत्रों में शिकार आदि कर के अपनी जीविका चलाते थे।

बुद्ध युग और मौर्य काल (६०० ई० पू० से लेकर १५० ई० पू० तक)

भी सभ्य हो चला था और मैदानों में

वास्तव में ईसा पूर्व छठी-पांचवीं शताब्दी में भारत का यह प्रदेश भी सम्य हो चला था और मैदानों में भारत का यह प्रदेश आकर्षण का क्षेत्र बन चुका था। सम्भवत: इसी लिये रहने वाले राजाओं, तपस्वियों एवं महापुरुषों के लिये आकर्षण का क्षेत्र बन चुका था।

महात्मा बुद्ध भी इस क्षेत्र में आये थे। उन्होंने आधुनिक कांगड़ा, कुल्लू तथा अन्य क्षेत्रों में अपने धर्म का प्रचार किया था। इस तरह उनके साथ भारत के मैदानी भागों का संपर्क धीरे-धीरे बढ़ा। इन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्तरों की ओर संकेत हमें प्रधानत: ह्वेनत्सांग के यात्रा विवरण से मिलता है। पाणिनि द्वारा उल्लिखित राजनैतिक स्थिति पांचवीं शताब्दी ई० पू० तक चलती रही।

इसके बाद के हिमाचल का इतिहास भारत के अन्य भागों की तरह कुछ अधिक ज्ञात है। ई० पूर्व चौथी और तीसरी शताब्दियों में इस प्रदेश में पहले विकसित जनपदों की सूचनायें नहीं मिलती हैं। ये भी सम्भवत: अन्य भागों में विकसित छोटे-छोटे गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक राज्यों की तरह मगध के साम्राज्य में विलीन हो गये। चन्द्रगुप्त मौर्य ने शायद पंजाब के अन्य गणराज्यों के साथ इन्हें भी समाप्त कर दिया और इस तरह यह प्रदेश भी उसके साम्राज्य का एक भाग बन गया। यहां की तत्कालीन ऐतिहासिक बातें प्राय: अज्ञात हैं। केवल मुद्राराक्षस में, जिसे विशाखदत्त ने गुप्तकाल में लिखा था, विषयान्तर से कुछ सूचनायें मिलती हैं। यद्यपि इसे समकालीन साक्ष्य न होने के कारण अधिक विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है फिर भी इसमें प्राप्त सूचनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसके अनुसार इस समय कुलूत का शासक चित्रवर्मन था, जो राक्षस के पांच सहायक संघ राज्यों में से एक था। इसे यहां 'म्लेच्छ' कहा गया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इस समय तक कुलूत का राज्य भारत के अन्य भागों के समान राजनैतिक और सामाजिक स्तर तक नहीं पहुंचा था। यद्यपि होरानन्द शास्त्री ने मुद्राराक्षस में उल्लिखित इस राज्य को अनैतिहासिक व्यक्ति माना है, फिर भी इसे एकदम निराधार और कल्पना-प्रसूत कहना सम्भावना से दूर लगता है। इसमें उल्लिखित राक्षस के पांच सहायक उस संघ राज्य की ओर संकेत करते हैं, जिसे पाणिनि के काल में 'त्रिगर्त षष्ठ' कहा जाता था। उनमें से कुलूतों का राज्य भी एक था। ऐसा लगता है कि मौर्य काल में यह संघ राज्य टूट कर बिखरने लगा था और चन्द्रगुप्त के समय में इस संघ राज्य में केवल पांच ही राज्य सम्मिलित थे जो बाद में मौर्य सम्राटों की विस्तार नीति और राजतन्त्रात्मक केन्द्रीय सत्ता के कारण बिल्कुल बिखर गये और वे मौर्य-साम्राज्य में धीरे-धीरे विलीन कर लिये गये।

कुछ भी हो, अशोक ने जिस साम्राज्य को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, वह हिमाचल तक विस्तृत जान पड़ता है। इस तथ्य के सम्बन्ध में साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों साक्ष्य मिलते हैं। ह्वेनत्सांग के कथनानुसार सम्राट् अशोक ने कांगड़ा तथा कुल्लू में बुद्ध भगवान की स्मृति में स्तूप बनवाया था। वास्तव में इन क्षेत्रों में भी अनेक बौद्ध तीर्थस्थान तब तक विकसित हो चुके थे, क्योंकि भगवान् बुद्ध का चरण-रज से यह क्षेत्र पहले ही पवित्र कर दिया गया था। अतएव अशोक ने इन क्षेत्रों में भी कई स्थानों पर बौद्ध-स्मारकों का निर्माण कराया। इनमें कांगड़ा और कुल्लू के स्तूप हर्ष के समय तक पूजा के स्थान बने हुए थे, जैसा कि ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण से मालूम होता है। इनमें कांगड़ा का स्तूप ह्वेनत्सांग के समय में 200 फ़ीट ऊंचा था। यह स्तूप चितड़ू नामक स्थान पर आज भी देखा जा सकता है, जो धर्मशाला से लगभग 5-6 मील दूर है। कुल्लू का स्तूप सिर्फ ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण से ही ज्ञात है और उसके अवशेष का ज्ञान हमें नहीं है।

अशोक के समय में हिमाचल की संस्कृति के विभिन्न पक्षों का विशेष रूप से विकास हुआ जान पड़ता है। उसके राजकीय संरक्षण में बौद्धधर्म ही नहीं विकसित हुआ, वरन् उसके साथ दर्शन, लिपि, साहित्य और कला की भी उन्नति हुई। ह्वेनत्सांग का कहना है कि हिमाचल के कांगड़ा क्षेत्र में भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 300 वर्ष पश्चात् महापंडित कात्यायन ने अभिधर्मज्ञान-प्रस्थान शास्त्र की रचना की थी। निकट ही जालन्धर, जो बाद में बौद्धधर्म का एक प्रधान केन्द्र बना, इस रूप में भी बौद्ध दर्शन और कलाकेन्द्र के रूप में विकसित हुआ जान पड़ता है। यहां पर बौद्धबिहारों और स्तूपों का ही निर्माण नहीं हुआ, वरन् दर्शन और साहित्य

के क्षेत्र में भी बौद्ध विद्वानों ने यहां बड़ा योगदान दिया । यही स्थिति कूल्लु घाटी की भी थी । अशोक के संरक्षण के फलस्वरूप यहां भी बौद्ध धर्म, दर्शन, कला और साहित्य के क्षेत्र में उन्नति हुई, जैसा कि ह्वेनत्सांग के यात्रा-विवरण से मालूम होता है । आधुनिक शिमला और सिरमौर के क्षेत्रों में और उसके साथ लगे हुए भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार काफी सीमा तक हो चुका था । निकटवर्ती स्थान अम्बाला और काल्सी बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र बने हुये थे । इसलिए वहां पर अशोक ने स्तूपों का निर्माण करवाया था और ब्राह्मी लिपि में अपने अभिलेख भी लिखवाये थे, जिससे हमें उसके शासन की सांस्कृतिक नीतियां मालूम होती हैं । सिरमौर और शिमला के मैदानी सीमा से लगे हुए क्षेत्रों को सम्भवतः ह्वेनत्सांग ने स्रुघ्न नामक राज्य के अन्तर्गत माना है जो काल्सी से बहुत दूर नहीं था । वहीं आसपास ही उसकी राजधानी भी स्थित थी जिसका ज्ञान हमें अब नहीं है । इस क्षेत्र में भी अशोक के समय में कला का विकास हुआ । ह्वेनत्सांग के अनुसार यहां कई संघाराम बनवाये गये थे और राजधानी में ही अशोक ने स्वयं एक स्तूप का निर्माण करवाया था । ह्वेनत्सांग का कहना है कि तथागत बुद्ध यहां भी आये थे और अपने धर्म का प्रचार किया था । मौद्गल्यायन और कुछ अन्य अर्हत् भी अशोक के समय में इस क्षेत्र में धर्म का प्रचार करने के लिए आये थे । ह्वेनत्सांग का तो यहां तक कहना है कि सिंहल देश से भी एक बोधिसत्व (बौद्ध भिक्षु) यहां धर्म के प्रचारार्थ आया था ।

वास्तव में इन क्षेत्रों में इन धर्म प्रचारकों के आगमन के साथ-साथ दर्शन, साहित्य, लिपि और शिक्षा का भी प्रचार हुआ । इसके लिये कई प्रमाण हैं । सब से बड़ा साक्ष्य तो कांगड़ा जिले में स्थित धर्मशाला से बारह मील दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित पथियार नामक स्थान से मिला प्राचीन अभिलेख है, जो ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखाया गया था । यह अभिलेख अशोक के राज्यकाल में लिखवाया गया जान पड़ता है । इसकी ब्राह्मी तीसरी शताब्दी ई० पू० की मालूम होती है, क्योंकि इसके अक्षरों का रूप और उनकी निर्माण-प्रक्रिया मौर्यकालीन ब्राह्मी की ही है । खरोष्ठी लिपि भी मौर्यकाल की ही है, क्योंकि इसका रूप उसके सह्बाजगढ़ी तथा अन्य उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों से मिले अभिलेख के समान है । वास्तव में उस समय इस क्षेत्र में ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियां प्रचलित थीं और सम्भवतः लोग संस्कृत और पाली नामक दो भाषायें भी बोलते, लिखने और पढ़ते थे । इस क्षेत्र से मिले मौर्योत्तर कालीन सिक्कों से भी ऐसी ही सूचनाएं मिलती हैं ।

इस अभिलेखीय साक्ष्य से तत्कालीन आर्थिक-व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है । इसमें एक तालाब के निर्माण का उल्लेख है । जिसे सम्भवतः कांगड़ा के क्षेत्रीय शासक ने खुदवाया था । यह सम्भवतः सिंचाई की व्यवस्था के लिये किया गया था । मौर्यकालीन सम्राटों ने कृषि पर बड़ा जोर दिया था । इस समय खेती के लिए नई-नई जमीनों को प्रयोग में लाने के लिये सरकारी प्रोत्साहन दिया गया था और अच्छी फसल के लिए नहरों और तालाबों की व्यवस्था की गई थी, जिन से सिंचाई के लिए किसानों को सभी प्रकार की सुविधाएं मिल सकें । ये मौर्यकालीन सरकारी नीतियां, सुविधायें और व्यवस्थाएं कौटिल्य के अर्थशास्त्र और रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख से भी ज्ञात होती हैं ।

हिमाचल प्रदेश में जनता की भलाई के लिए की गई इन सरकारी सुविधाओं को भारत की केन्द्रीय सरकार की प्रमुख देन मानना चाहिए । सम्भवतः ऐसी ही आर्थिक व्यवस्था हिमाचल के अन्य भागों में भी की गई थी । परिणामतः कृषि के विकास के साथ-साथ लोगों की आर्थिक दशा भी अच्छी हो गई थी । सम्भवतः लोग अन्य व्यवसायों और उद्योगों में भी लगे थे, जिनमें फलोत्पादन, साग और सब्जियों का उगाना, लकड़ी का व्यवसाय, ऊन और औषधियों का व्यापार, जो प्राचीन काल से चले आ रहे थे, इस काल में अत्यधिक विकसित हुए, जैसा कि साक्ष्य में मिले छिट-पुट साक्ष्यों से ज्ञात होता है । ऐसा लगता है कि कुछ व्यापारिक केन्द्र, लघु नगर और कस्बे भी इस समय स्थापित किये गये, जिनके विषय में हमें ज्ञान प्रायः नहीं के बराबर है । लेकिन राज्य के विकास तथा संस्कृति एवं व्यापार की उन्नति के कारण ऐसा होना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है ।

शुङ्ग युग और क्षेत्रीय लघुराज्यों का उत्थान और पतन

(150 ई० पू० से लेकर 350 ई० तक)

मौर्योत्तर काल में हिमाचल प्रदेश की यह राजनैतिक इकाई सम्भवतः अधिक दिन तक न चल सकी । मौर्यों के पतन के बाद शुङ्ग वंशीय सम्राट् पुष्यमित्र ने सम्भवतः कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र को अपने शासन के अधीन रखा जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म और विशेषकर शैव धर्म का बड़ा विकास हुआ । पुरातात्विक साधन तत्कालीन इतिहास लिखने में अधिक सहायक हैं वे साहित्यिक ग्रन्थों में उल्लिखित राजनैतिक दशा की पुष्टि तो करते ही हैं, साथ ही साथ कुछ नई सूचनायें भी देते हैं ।

इस में वे सिक्के विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० से लेकर तृतीय शताब्दी ईसवी तक के समय प्रचलित थे । ये हिमाचल के किसी न किसी भाग से अवश्य मिले हैं । लेकिन इन से फिलहाल इस भाग में शुङ्ग शासकों की गति-विधियों का ज्ञान हमें नहीं मिलता है । ऐसा लगता है कि मौर्यों के पतन के बाद मगध का केन्द्रीय शासन हिमाचल तक बहुत दिनों तक नहीं चल सका और पुष्यमित्र शुङ्ग की मृत्यु के बाद ही जैसे भारत के कुछ भाग स्वतन्त्र हो गये और कुछ भाग विदेशी हिन्द-युनानी शासकों के अधीन हो गए वैसे ही हिमाचल की भी राजनैतिक दशा कुछ बिगड़ गई । सम्भवतः डेमोटियस और मिनेण्डर के पंजाब विजय के बाद शुङ्गों का शासन इस क्षेत्र में समाप्त हो गया और उसके कुछ भाग पर इन विदेशी शासकों ने अधिकार कर लिया और यहां के मैदानी भागों से मिले क्षेत्रों के शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया । इसके लिये बड़े प्रमाण हिन्द-युनानी सिक्के हैं जो कांगड़ा क्षेत्र में स्थित कुछ स्थानों से मिले हैं । उदाहरणार्थ अपालोडोटस युग के अत्यधिक रजत सिक्के ज्वालामुखी से मिले हैं जो हिन्द-युनानी राज्य के इस क्षेत्र में विस्तार के द्योतक हैं । प्रो० एलन के अनुसार, जिन्होंने, भारत के प्राचीनतम सिक्कों का विस्तार से अध्ययन किया है, अण्टिआकस द्वितीय, फिलोजेनस, लीसिअस, अण्टिआल काइडस और मिनैन्डर के भी कुछ रजत सिक्के कांगड़ा से मिले हैं । इन सिक्कों के प्रचलन का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्द्ध जान पड़ता है क्योंकि इन पर युनानी सिक्कों का प्रभाव है और ये ऐसी कब्रगाह से मिले हैं जिसका समय लगभग एक सौ ई० पू० माना गया है । इन साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि हिन्द-युनानी विजेताओं ने पंजाब के मैदानी भागों के साथ साथ हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया था । वे वहां कुछ समय तक अधिकार किये रहे और शासन करते रहे । ऐसा लगता है कि यह क्षेत्र कुछ समय के लिये उनके उत्तरी पश्चिमी सीमांत पर भारतीय साम्राज्य का अभिन्न अंग बन गया था ।

परिणामतः हिमाचल का यह भाग विदेशी सभ्यता के सम्पर्क में भी आया और उससे भी इसने कुछ सीखा । हिन्द-युनानी विजेता साहित्य, दर्शन, कला तथा अन्य सांस्कृतिक पक्षों में दक्ष थे । इनके आगमन से इस क्षेत्र के व्यापार में भी प्रगति हुई और हिमाचल प्रदेश ने विदेशी आर्थिक व्यवस्था में भी भाग लिया । इस क्षेत्र की उत्तम वस्तुएं जिनमें इस क्षेत्र की ऊन प्रमुख थी इनके और इनके साम्राज्य के माध्यम से, बैक्ट्रिया होते हुए पश्चिमी एशिया, युनान, रोम तथा मध्यएशिया के बाजारों तक पहुंची । यह भाग बौद्ध धर्म एवं संस्कृति का भी केन्द्र था । अतएव इनके सम्पर्क से यह धर्म और कला भी विदेशों में गई । लेकिन इस क्षेत्र के अन्य पहाड़ी भागों में इनके साम्राज्य का विस्तार सम्भवतः न हो सका क्योंकि इनकी शक्ति और दृष्टि स्वभावतः भारत के समृद्ध मैदानी भागों की ओर अधिक थी । यातायात के साधनों की कमी के कारण यह पर्वतीय क्षेत्र विदेशी प्रभाव से कुछ हद तक दूर ही रहा ।

इस राजनैतिक उथल-पुथल के कारण इस क्षेत्र की प्राचीन जनजातियों को अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का अवसर मिल गया। सम्भवतः इसी लिये रामायण और महाभारत में हम उनका उल्लेख पाते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में कुलूत लोगों का उल्लेख है। रामायण में कैकेय देश का वर्णन है जिसे कुछ विद्वानों ने कांगड़ा से अभिन्न माना है। यहां यह ध्यातव्य है कि इसी क्षेत्र में पूर्वोल्लिखित त्रिगर्त जनपद के बहादुर लोग रहते थे जो अस्त्र-शस्त्र चला कर और युद्धों में भाग लेकर अपनी जीविका चलाते थे। वे स्वभावतः वीर और लड़ाकू थे अतएव वे विदेशी शासकों की अधीनता बहुत दिनों तक न सह सके। समय पाकर इस समय उन्होंने अपने गणराज्य की स्थापना की और अपना सिक्का चला कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित की। इनके सिक्कों पर ब्राह्मी अक्षरों में "त्रकत जनपद" लिखा है जिन्हें लिपि-शास्त्र के विकास के आधार पर द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के पूर्वार्द्ध में रखा जाता है। सिक्कों की प्राचीनता उनके रूप, आकार एवं प्रकार से भी द्योतित होती है। वे आकार में चौकोर हैं और उनके एक तरफ चार मंजिल का स्तूप बना है। उन पर खरोष्ठी में भी सम्भवतः वही लेख लिखा है।

यह जनपद सम्भवतः आधुनिक जलन्धर क्षेत्र के समान विशाल था और रावी तथा सतलुज नदियों के बीच में स्थित था। उसका कुछ भाग मैदानी था और कुछ भाग पहाड़ी। जलवायु उत्तम होने के कारण और धरती के उपजाऊ होने के कारण वहां उत्तम कृषि होती थी। लोग परिश्रमी होते थे अतएव इनका जनपद समृद्ध था, उनकी आर्थिक दशा अच्छी थी जिससे वे विदेशी सत्ता को ललकार करके तथा राजतन्त्रात्मक राज्यों को यथासम्भव उपेक्षित करके अपने गणराज्य की सत्ता को बीच बीच में कुछ समय को छोड़ कर कई शताब्दियों तक स्थापित रखने में सफल रहे। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस जनपद का उल्लेख सातवीं शताब्दी ई0 में लिखे गये दण्डी के दशकुमारचरित में भी है।

इस राज्य का ज्ञान हमें मूलतः सिक्कों से ही हुआ है जिनकी न तो संख्या अधिक है और न जिनके कई प्रकार ही हैं। लेकिन उन पर लिखा छोटा-सा अभिलेख इस प्रदेश के कुल्लू क्षेत्र के इतिहास पर अमूल्य प्रकाश डालता है। इस पर कुलूतों के राजा वीरयश का उपाधि सहित उल्लेख है। मूल अभिलेख है, "राज्ञो कोलूतस्य वीरयशस्य" जिसका अर्थ यह है कि यह सिक्का कुलूतों के राजा वीरयश द्वारा चलाया गया, जो कुलूत लोगों से सम्बन्धित था। यहां यह ध्यातव्य है कि इन शताब्दियों में राजा की उपाधि स्वतन्त्र और स्वयम् प्रभु शासकों द्वारा धारण की जाती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कुलूत घाटी में विकसित यह एक राजतन्त्रात्मक राज्य था जिसका राजा वीरयश था। हो सकता है कि कुल्लू घाटी में पहले से ही चले आ रहे कुलूतों के गणराज्य का जब मौर्य-साम्राज्य में विलय हो गया तो उसके पतन के बाद वहां के लोगों ने राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली को स्वीकार कर लिया। यह भी सम्भव है कि पहले वीरयश के पूर्वज मौर्य और शुङ्ग वंशीय सम्राटों के अधीन यहां शासन कर रहे थे। बाद में उन्हीं के वंशज ने समय पाकर स्वतन्त्र अधिसत्ता की घोषणा की और परिणामस्वरूप नया सिक्का चलाया। इस नये स्वतन्त्र राज्य की स्थिति का ज्ञान सर्वप्रथम हमें मान्य पुरातात्विक स्रोत से होता है अतएव हिमाचल की वादियों में ऐसे राजनैतिक विकास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कुल्लू की उपजाऊ घाटी और उत्तम जलवायु ने राज्य की आधारभूत अर्थ-व्यवस्था को सुलभ बनाया और परिणामस्वरूप सांस्कृतिक और आर्थिक विकास के लिये रास्ता साफ किया। कुल्लू घाटी में राजनैतिक विकास की यह दशा सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दियों में थी, यद्यपि रैप्सन ने लिपिशास्त्र के विकास के आधार पर इन सिक्कों को प्रथम या दूसरी शताब्दी ईसवी में प्रचलित बताया है जिसे अन्य विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। एलन महोदय ने इसे हिमाचल का अत्यधिक प्राचीन सिक्का माना है और उसके आधार पर वीरयश को द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व का राजा स्वीकार किया है। यह स्थिति तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के विकास को देखते हुए अत्यन्त सही मालूम होती है।

ईसा पूर्व इन्हीं शताब्दियों में हिमाचल के किन्नौर, सिरमौर और सम्भवतः शिमला क्षेत्रों में एक दूसरे अर्द्ध गणराज्य की स्थापना हुई जिसे इतिहासकार कुनिन्दों का गणराज्य मानते हैं। इनकी स्थिति और इतिहास का ज्ञान हमें कई स्रोतों से होता है। महाभारत में उनका उल्लेख है और उन्हें हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों का निवासी बताया गया है। उनका उल्लेख टाल्मी ने भी 'कुनिन्द्रिने' कह कर किया है और उन्हें व्यास, सतलुज तथा यमुना नदियों के उद्गम स्थान का निवासी कहा है। बाद के साहित्य में भी कुनिंदों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ बराहमिहिर की बृहत्संहिता में उन्हें भारत के उत्तरी क्षेत्र में रहने वाले कश्मीरी, कुलूतों और सैन्धव लोगों के साथ वर्णित किया गया है। इसमें इन्हें कुलिन्द कहा गया है, जिसका वर्णन विष्णु पुराण में भी मिलता है।

परन्तु सिक्के इनके इतिहास और हिमाचल को इनकी देन जानने के लिये सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। इनके प्राप्त सिक्कों की संख्या अत्यधिक है जो हिमाचल के विभिन्न भागों से मिले हुए हैं। एलन महोदय ने इन्हें क्रम और प्रचलन-काल की दृष्टि से दो उपविभागों में बांटा है जिसमें प्रथम विभाग के सिक्के प्रथम शताब्दी ई0पू0 में प्रचलित थे और दूसरे विभाग के सिक्के तीन शताब्दी बाद चलाये गये थे। इनके इस प्रकार के विभाजन से ही कुनिन्दों का इतिहास जाना जाता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि हिमाचल के इन भागों में शुङ्ग काल के पतन के बाद और हिन्द-यूनानी शासकों के पराजय की पश्चात् कुनिन्दों ने अपने राज्य की स्थापना की और अपने स्वतन्त्र सिक्कों का प्रचार किया।

इनके प्रारम्भिक सिक्के चांदी और तांबे के बने हैं। विद्वानों की धारणा है कि ऐसे सिक्कों के आकार एवं प्रकार हिन्द-युनानी शासकों के सिक्कों से प्रभावित हैं। इस तथ्य से भी उनके प्रचलन का समय और उनके निर्माता कुनिन्दों का शासनकाल हिन्द-युनानी शासकों के पतन के बाद ही जान पड़ता है। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि ये शासक प्रथम शताब्दी में ही अपनी राजसत्ता को स्वतन्त्र घोषित कर सके।

यह राज्य सम्भवतः अर्द्धराजतन्त्रात्मक या अर्द्धगणतन्त्रात्मक था। इन सिक्कों पर महाराज अमोघभूति के नाम का उल्लेख है जो स्वराज्य का ज्ञात प्रथम प्रतापी शासक मालूम होता है। वह कुनिन्द जाति से सम्बन्धित था और उन्हीं लोगों की सहायता से वह राज्य का प्रशासक था। 'महाराज' की उपाधि ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियों में उत्कीर्ण है जिससे यह सन्देह होता है कि इस समय कुनिन्दों का गण-प्रशासक राजतन्त्रात्मक नीतियों का पालन कर रहा था। यह वास्तव में हिन्द-युनानी शासन-पद्धति और राजनीति का प्रभाव जान पड़ता है। यह तथ्य इस बात से भी परिलक्षित होता है कि 'महरजस' उपाधि खरोष्ठी में सिक्कों पर उसी प्रकार लिखी गई है जैसे वह हिन्द-युनानियों के सिक्कों पर उनके लिये लिखी जाती थी। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि अमोघभूति कुनिन्दों का राजा था। उसने इन सिक्कों को प्रचलित किया था और समय पाकर अपनी शक्ति को काफी दूर तक फैलाने का प्रयत्न किया था। वैसे डा0 के0 पी0 जायसवाल ने 'अमोघभूति, शब्द को राजा का नाम न मान कर उसकी एक सरकारी उपाधि मानी है जिससे उनके अनुसार यह लक्षित होता है कि वह अत्यन्त समृद्ध एवं शक्तिशाली था। परन्तु एक ही सिक्के पर 'राजा' का दो बार प्रयोग और साफ-साफ यह कथन कि वह कुनिन्दों का राजा है—इस बात के लिए कोई सन्देह ही नहीं छोड़ता कि वह एक स्वतन्त्र प्रशासक का नाम है। अतः एलन जैसे विद्वानों का यह मत अधिक उपयुक्त मालूम होता है कि अमोघभूति कुनिन्दों का प्रधान प्रशासक था। उसके नाम के अर्थ से उसके राज्य का शक्तिमान और समृद्ध होना तो व्यञ्जित होता ही है। सम्भवतः उसका साम्राज्य पहाड़ी, और लगे हुए पंजाब के कुछ उपजाऊ मैदानी भागों तक विस्तृत था अतः उसे साधनों की कमी नहीं थी। कुनिन्दों की जाति बहादुर तो थी ही। अतएव समय पाकर तथा साधनों को जुटा कर उन लोगों ने अपनी एक विशाल सेना का निर्माण किया जिसकी सहायता से उन्होंने न केवल विदेशी हिन्दु शासकों को हराया, वरन् आसपास के क्षेत्रों को भी विजय किया।

कुनिन्दों के सिक्के हिमाचल के कई भागों से मिलते हैं जिससे उनके राज्य के विस्तार और उनके प्रभाव क्षेत्र के फैलाव का ज्ञान होता है। इनके 54 रजत सिक्के हिमाचल के हमीरपुर जिले में स्थित तप्पा मेवा नामक स्थान से अपोलोडोटस के इक्कीस सिक्कों के साथ मिले हैं। ज्वालामुखी से भी तीन रजत सिक्के उसी के तीस सिक्कों के साथ प्राप्त हुए हैं। वैसे इनके सिक्के अधिकतर और अधिक संख्या में अम्बाला और सहारनपुर के बीच के क्षेत्रों से मिले हैं। लेकिन ये सिक्के बाद में विकसित कुनिन्द राज्य के सिक्के मालूम होते हैं। कुछ भी हो, कुनिन्दों के राज्य के विकास का क्षेत्र शिवालिक पहाड़ियों की तलहटी में स्थित यमुना और सतलुज नदियों के बीच और व्यास तथा सतलुज नदियों की ऊपरी घाटियों में सुरक्षित था और वही उनका मूल निवासस्थान था। हिमाचल का किन्नौर जिला, शिमला तथा सिरमौर का कुछ भाग कुनिन्दों का कार्य-क्षेत्र मालूम होता है परन्तु दुर्भाग्य से उनके सिक्के इन क्षेत्रों से अब तक प्रायः नहीं खोजे गये हैं, केवल अर्की से ही कुछ कुनिन्द सिक्के मिले हैं जो शिमला से लगभग तीस मील दूर स्थित है। इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

अमोघभूति वास्तव में इस क्षेत्र का एक प्रतापी शासक ही नहीं वरन् अपने समय का सम्भवतः सब से बड़ा महत्वाकांक्षी और विजेता भी था। उसने चारों तरफ विजय करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहा। मैदानी भागों में शकों को पराजित किया और अपने राज्य का विस्तार किया तथा कांगड़ा क्षेत्र में औदुम्बरों को पराजित करके कुछ समय के लिये उनके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। यह बात इस क्षेत्र से उसके सिक्कों की प्राप्ति से ही सिद्ध नहीं है बल्कि औदुम्बर शासकों के द्वारा उसके सिक्के के अनुकरण से भी सिद्ध होती हैं। औदुम्बरों के रजत सिक्के उसके सिक्के के समान हैं। ज्वालामुखी से उनका एक सिक्का अमोघ-भूति के तीन सिक्कों तथा अपोलोडोटस के अठ्ठाइस सिक्कों के साथ प्राप्त हुआ है। उसका राज्य काल वास्तव में बड़ा ही समृद्ध था, जैसा कि उसके रजत सिक्कों के प्रचलन, उनकी उत्तम बनावट और उनकी संख्या से ज्ञात होता है। उसने वास्तव में, ऐसे सिक्के चलाकर बाजार में प्रचलित युनानी रजत सिक्कों की सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से न केवल समानता करने की कोशिश की वरन् ऐसा कर के विदेशी प्रताप और व्यवस्था को इस क्षेत्र से समाप्त करने का भी प्रयत्न किया।

यह स्थिति शायद बहुत दिनों तक न चल सकी। आर्थिक दृष्टि से कुछ समय बाद उसका पतन प्रारम्भ हो गया जैसा कि उसके ताम्रनिर्मित सिक्कों के प्रचलन से मालूम होता है। ऐसा लगता है कि औदुम्बरों की बढ़ती शक्ति और शकों की विस्तार नीति के कारण उसे अपने राज्यकाल के अन्त में कुछ समय तक युद्धों में लगा रहना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी कुनिन्द शासकों को और भी आपत्तियों का सामना करना पड़ा। जैसा कि बाद के कुछ ताम्रसिक्कों से मालूम होता है, जो बनावट में और भी खराब हैं। उन पर उनके अपूर्ण अभिलेख मिलते हैं। यह स्थिति उनकी बुरी आर्थिक दशा की परिचायक है और उनके पतन और विलय की ओर संकेत करती है। वास्तव में ई0 पू0 प्रथम शताब्दी के अन्तिम दशक तक एक ओर शकों का विस्तार हो रहा था और दूसरी ओर प्रथम शताब्दी ईसवी में कुशानों का आक्रमण शक्तिशाली हो गया था, हुविष्क और कनिष्क की विजयों के फलस्वरूप कुषाण-साम्राज्य के विस्तार के सामने कुनिन्दो की न चल सकी और अन्त में कुछ समय के लिए उनका पतन अवश्यम्भावी हो गया। फिर भी, कुनिन्दों का यह राज्यकाल हिमाचल के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्तर मालूम होता है। जहां एक ओर राजनैतिक दृष्टि से इस क्षेत्र के लोगों को चेतना मिली वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियां सम्भव हो सकीं। उन्होंने कम से कम एक शताब्दी के लिए संस्कृति के विभिन्न अंगों के विकसित होने का अवसर प्रदान किया। भाषा और लिपि, शिक्षा और साहित्य में धर्म तथा कला सभी का इस क्षेत्र में बड़ा विकास हुआ जिसका विशद वर्णन हम आगे करेंगे।

इस समय औदुम्बरों के राज्य की पुनः स्थापना इस क्षेत्र के राजनैतिक इतिहास का दूसरा महत्वपूर्ण विकास है। शुङ्ग राजाओं के पतन के बाद और हिन्द-युनानी शासकों की पराजय के पश्चात् कांगड़ा और आसपास के मैदानी भागों में इस जाति के शासकों का राज्य स्थापित हुआ था। यह एक बड़ी प्राचीन, बहादुर एवं शासक जाति थी जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

कुलूतों और कुनिन्दों के समान इनका भी इतिहास साहित्यक और पुरातात्विक स्रोतों से ज्ञात है। महाभारत औदुम्बरों का उल्लेख उत्तर भारत के लोगों के साथ करता है। पाणिनि पर लिखे गये गणपाठ का रचयिता उन्हें जलन्धर के लोगों के साथ रखता है और वराहमिहिर उन्हें मध्यदेश का निवासी बताता है। विदेशी यात्री प्लिनी को भी औदुम्बरों की सूचना थी, लेकिन वह उन्हें कच्छ का निवासी बताता है जिससे यह सिद्ध होता है कि वे इस समय भारत के अन्य भागों में भी बसे हुये थे।

सिक्कों के माध्यम से उनके सही प्रदेश का ज्ञान होता है। इस क्षेत्र से कुछ ऐसे चौकोर ताम्र-निर्मित सिक्के मिले हैं जिन पर औदुम्बरों का नाम उत्कीर्ण है। कुछ रजत तथा गोल सिक्के भी मिले हैं, जिन्हे कनिंघम और एलन सही ही औदुम्बरों का ही सिक्का मानते हैं। इनमें ताम्रनिर्मित चौकोर सिक्के शायद सबसे प्राचीन हैं जो पूर्ण रूपेण भारतीय परम्परा में निर्मित हैं और जिन पर किसी भी प्रकार का विदेशी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। औदुम्बरों के कुछ सिक्के ज्वाइलस, वोनोनीज़, गोन्डोफ़रनेज तथा कुषाणों के सिक्कों के साथ भी मिले हैं जिससे यह मालूम होता है कि वे सिक्के इन विदेशी शासकों के सिक्कों से प्राचीन हैं।

औदुम्बरों के कुछ सिक्के सम्भवतः कुछ बाद के भी हैं जो इन प्राचीन सिक्कों से कुछ भिन्न हैं। इनकी निर्माण-शैली, बनावट और आकार प्रकार पर हिन्द-युनानी शासकों के सिक्कों की विशेषतायें मिलती हैं। इन्हें हम प्रथम शताब्दी ई0 पूर्व के मध्य में रखते हैं। उदाहरणार्थ वे रजत सिक्के जिन पर धरघोष का अभिलेख मिलता है, इस श्रेणी में गिने जा सकते हैं। इनके एक तरफ दाढ़ी रखे एक पुरुष की आकृति बनी है जिसका दाहिना हाथ उठा हुआ है। एलन आदि विद्वानों ने इसे हरकुलेस की नकल माना है जिसे हम लीसिऊस के सिक्के पर पाते हैं। इसके बायें हाथ में सिंह-चर्म लटक रहा है, लेकिन गदा नहीं दिखाई गई है। सम्भवतः यह विश्वामित्र की आकृति है। स्पष्टतः यह हिन्द-युनानी सिक्कों की विशेषतायें हैं। इन्हें हम प्रथम शदी ई0 पू0 के मध्य में चलाया गया मान सकते हैं। ऐसा एक सिक्का लाहौर संग्रहालय में है।

ऐसी ही कुछ विशषतायें महादेव औदुम्बर के दो गोल रजत सिक्कों पर मिलती हैं जो ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन पर एक तरफ एक गज बना है और दूसरी तरफ़ एक वृषभ की मूर्ति खचित है। ये सिक्के अपोलोडोटस के सिक्कों के समान हैं और धरघोष के सिक्कों से भी मिलते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता इसका खरोष्ठी में लिखा 'रजरज, है जिसे संस्कृत में 'राजराज्ञः, कहेंगे, जिसका अर्थ है 'राजाओं का राजा'। यह उपाधि भारतीय राजशास्त्र और राजाओं की उपाधि-परम्परा में एक नई उपाधि है जो हिन्द-युनानी राजाओं की उपाधियों से ली गई है। अतः ये सिक्के जहां एक तरफ औदुम्बर महादेव की महानता, संप्रभुता और शक्ति के परिचायक हैं, वहीं दूसरी तरफ वे यह भी दिखाते हैं कि औदुम्बरों ने हिन्द-युनानियों को पराजित करके स्वतन्त्रता घोषित की, उनके राज्यक्षेत्रों पर अधिकार किया और साथ कुछ दिनों तक उनके साथ और प्रभाव में रहने के कारण उनकी संस्कृति, शासन और राजनीति की अनेक विशेषताओं को स्वीकार भी कर लिया।

इस राज्य वंश का तीसरा शासक रुद्रवर्मा था जिसके विषय में उसके एक रजत सिक्के से सूचनायें मिलती हैं। यह सिक्का प्रधानतया महादेव के सिक्कों के समान है। उस पर दाहिनी तरफ देखते एक गज का रूप और कुठार के साथ वज्र की आकृति खचित है जिससे इस शासक को भी औदुम्बर संघ से ही सम्बन्धित किया जाता है। खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों में 'विजयत (य) रज वेमकिस रुद्रवमंस' लिखा है जिससे राजा की शक्ति और इस क्षेत्र के तत्कालीन राजनैतिक जगत में उसका स्थान मालूम होता है। कनिंघम तथा रैप्सन आदि विद्वानों ने इस

में प्रयुक्त विजयत शब्द को 'विजयी' के अर्थ में स्वीकार किया है जिससे रुद्रवर्मा की किसी अज्ञात विजय की ओर संकेत मिलता है। सम्भवत: उसने शक्ति उपार्जित करके अपने राज्य का विस्तार करने के लिए किसी दिशा में आक्रमण किया और शत्रु से टक्कर होने पर उसमें सफलता प्राप्त की। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन दिनों पंजाब के कुछ भागों में शकों की शक्ति बढ़ रही थी और वे उधर अपना विजय तथा प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहे थे। हिमाचल के दूसरे क्षेत्रों में कुनिन्दों की शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुंच रही थी। असम्भव नहीं है कि रुद्रवर्मा के नेतृत्व में औदुम्बरों को इन्हीं शक्तियों में एक से या दोनों से लोहा लेना पड़ा जिसमें एक स्तर पर उनको विजय-श्री मिली और दूसरे स्तर पर उन्हें सम्भवत: पराजय स्वीकार करनी पड़ी, जैसा कि कांगड़ा क्षेत्र से कुनिन्द सिक्कों की प्राप्ति से साफ जाहिर है। कुनिन्द-औदुम्बर युद्ध अमोघभूति कुनिन्द के सिक्कों से भी ज्ञात होता है। यह निश्चित है कि दोनों जाति-विशेषों के राज्यकाल बहुत समय तक समकालीन थे और दोनों विस्तारवादिनी नीति के पोषक थे; क्योंकि विदेशी शत्रुओं से सामना करने के लिए और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए दोनों को अधिक से अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता थी। अतएव पड़ोसी होने के कारण उनमें टक्कर होना स्वाभाविक था। उनके साम्राज्य-विस्तार का ज्ञान उनके सिक्कों की प्राप्ति से होता है। ये सिक्के इस क्षेत्र में स्थित कई स्थानों से मिले हैं। कनिंघम को पठानकोट के उत्खनन में इनके कई सिक्के मिले थे। उन्होंने ज्वालामुखी से भी उनके सिक्के खोज निकाले थे। 1913 ई0 में कांगड़ा जिले में स्थित रुरिप्पल नामक स्थान से औदुम्बर सिक्कों का एक विशाल ढेर मिला था जिसे आर0 डी0 बैनर्जी ने बाद में प्रकाशित किया। इनका आकार प्रकार पहले के ही समान है। इनके अध्ययन से उनके शासनकाल की अन्य बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। वास्तव में, औदुम्बरों का शासनकाल हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा-चम्बा क्षेत्र के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लगभग दो शताब्दियों तक उनके समय में यह क्षेत्र राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित होता रहा। उनके सहयोग से और उनके संरक्षण में संस्कृति के विभिन्न पक्षों जैसे लिपि, भाषा, शिक्षा, साहित्य, कला तथा धर्म एवं दर्शन—का पर्याप्त रूप से विकास हुआ। सिक्कों पर मिले अभिलेखों में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया गया है। इनमें प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं का प्रयोग मिलता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि इस क्षेत्र के कुछ भागों में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था और कुछ भागों में प्राकृत बोली जाती थी। या एक ही भाग में विभिन्न लिपियों और भाषाओं के जानने वाले रहते थे। इन्हीं सिक्कों पर मिले चिन्हों और प्रतीकों से इस क्षेत्र में इन दिनों विकसित शैव धर्म के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। इस धर्म को राज-प्रोत्साहन और संरक्षण प्राप्त था, लेकिन शासक-वर्ग धर्म-सहिष्णु था, अतएव बौद्ध-धर्म भी पूर्ववत विकसित होता रहा। किन्तु यह राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थिति बहुत दिनों तक न चल सकी। भारत पर विदेशी आक्रमण का प्रकोप पुन: जोरदार हो गया। विदित ही है कि हिन्द-युनानी आक्रमण के बाद भारत पर शकों, पार्थियों तथा कुषाणों ने हमला किया। शकों तथा पार्थियों ने सम्भवत: अपनी दृष्टि अधिकतर पास के मैदानी भागों पर ही लगाई, क्योंकि हिमाचल में इन दो विदेशी राजवंशों के शासन के प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। पठानकोट से प्राप्त सिक्कों के ढेर में ज्वाइलस, बोनोनीज तथा गोण्डोफरनीज के कुछ सिक्के मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इन आक्रमणकारियों ने हिमाचल से लगे मैदानी भागों पर कुछ वर्षों तक शासन किया लेकिन इनके आक्रमण के तूफान को हिमाचल की पर्वत और घाटियों में बसे और इन दिनों फलते-फूलते अर्धगणतन्त्रात्मक राजवंशों ने रोक दिया। इन देशी राजाओं के साथ शकों के सम्भावित संघर्ष की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं जिस में सम्भवत: औदुम्बरों और कुनिन्दों ने उनका डट कर और सफल सामना किया।

कुशाणों का उत्थान और पतन तथा देशी राज्यों का पुनरुत्थान

(25 ई0 से लेकर 350 ई0 तक):

परन्तु ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में बलवान तूफान की तरह आये हुये कुषाणों के आक्रमण का सामना वे न कर सके। उनके समक्ष उन्होंने अपनी तलवार डाल दी। इसका प्रमुख कारण इन देशी राज्यों का आपसी संघर्ष और मनमुटाव हो सकता है। कुषाणों की शक्ति प्रबल थी। वे मध्य एशिया और बैक्ट्रिया से हटकर नये-नये प्रदेशों को जीतने और उन्हें अपना घर बनाने के लिये कृत संकल्प थे। उन्होंने वैमकैडफाइसेस, हुविष्क तथा कनिष्क के नेतृत्व में भारत के कुछ भागों को जीता। यद्यपि पंजाब और उत्तर प्रदेश का मैदानी भाग उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र था, फिर भी हिमाचल की इन सुहावनी घाटियों ने भी उनका ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने शिमला, सिरमौर तथा कांगड़ा आदि क्षेत्रों को जीता और उन्हें अपने विशाल साम्राज्य का अंग बना लिया, जैसा कि यहां से उनके सिक्कों की प्राप्ति से मालूम होता है।

कुषाणों के सिक्के हिमाचल के कई भागों से मिले हैं। वैमकैडफाइसेस के 382 ताम्र निर्मित सिक्के कालका-कसौली सड़क पर स्थित एक स्थान से मिले हैं जिनके साथ कनिष्क के भी चालीस सिक्के प्राप्त हुए हैं। वैमकैडफाइसेस के दो सिक्के, कनिष्क का एक और वासुदेव का एक सिक्का कांगड़ा में स्थित कनिहारा नामक स्थान से भी मिला है। इनसे यह सिद्ध होता है कि हिमाचल के ये क्षेत्र वैमकैडफाइसेस के राज्यकाल में ही कुषाणों द्वारा जीत लिए गये थे और ये भाग कुषाण-साम्राज्य के अंग बन गये थे। इस प्रदेश के शेष भागों की इस समय क्या दशा थी—इस पर कुछ कहना प्रभावपूर्ण न होगा क्योंकि कुल्लू, लाहौल-स्पिति तथा किन्नौर के क्षेत्रों से कुषाण शासन के कोई भी प्रमाण नहीं मिले हैं। लेकिन संभावना इस बात की अधिक है कि वे भाग भी कुषाण साम्राज्य के अधीन थे। चम्बा से कुषाणकालीन कला के उदाहरण मिलते हैं। कुषाणों का साम्राज्य काफी विशाल था। यह उतरभारत से लेकर मध्य एशिया तक विस्तृत था। अतएव हिमाचल प्रदेश की ये ऊंची पर्वत-चोटियां और उनकी गोद में बसी उपजाऊ तथा सुन्दर घाटियां उनके विजय-निनाद से अवश्य झंकृत हुई होंगी, ऐसा अनुमान है।

लेकिन, इस समय भी इस क्षेत्र में संस्कृति का विकास निरन्तर गति से होता रहा। लिपि भाषा और साहित्य का विकास अबाध गति से चलता रहा। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियां तथा संस्कृत और प्राकृत भाषायें पूर्ववत विकसित होती रहीं। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अटूट विकास होता रहा। कुषाण शासक काफी हद तक धर्म सहिष्णु थे। उन्होंने सभी धर्मों तथा हर प्रकार की कलाओं के फलने-फूलने के लिए सुनहरा अवसर प्रदान किया। परिणामत: इस क्षेत्र में शैव धर्म और बौद्ध धर्म पूर्ववत् विकसित होते रहे। अधिक रुचिकर बात तो यह है कि ये कुषाण सम्राट् काफी हद तक भारतीय बन चुके थे। इनमें से कोई शैव धर्म स्वीकार कर चुका था, तो कोई बौद्ध धर्म। अतएव इन धर्मों के विकास के लिए इन दिनों राज-प्रोत्साहन भी मिला। सम्भवत: इसी कारण जलन्धर, कांगड़ा, कुल्लू, सिन्ध तथा हिमाचल के अन्य भागों और स्थानों में धार्मिक भवनों तथा मूर्तियों का निर्माण हुआ जिसका वर्णन हम विशद रूप से बाद में करेंगे।

आर्थिक दृष्टि से भी इस काल को हिमाचल के इतिहास में विकास का समय मानना चाहिए। कुषाणों के विशाल साम्राज्य ने यातायात और आवागमन की सुविधाएं प्रदान कीं। देश व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन मिला। हिमाचल के विभिन्न पदार्थ मध्य एशिया तक ले जाये गये। इसी काल में तिब्बत और चीन के साथ इस का व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा।। ऊन, रेशम तथा फलों की उपज में अधिक वृद्धि हुई। परिणामत: इन उद्योगों को यहां बढ़ने के लिए अवसर सुलभ हुआ और हिमाचल प्रदेश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हुआ। भारत के मैदानी भागों के साथ भी इसका सम्बन्ध निश्चित रूप से अधिक प्रोत्साहित हुआ, क्योंकि साम्राज्य की एक इकाई होने से मनुष्यों का आवागमन और वस्तुओं का आदान-प्रदान स्वभावत: बढ़ जाता है।

देशी राज्यों का पुनरुत्थान:—

कुषाणों के पतन के बाद इस क्षेत्र में देशी राज्यों का पुन: उत्थान हुआ। उन देशी शक्तियों में जिन्होंने कुषाणों के पतन में बड़ा योगदान दिया था, यहां की कुछ राज जातियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

योद्धेय तथा कुनिन्द जातियां बहुत दिन तक कुषाण शासकों की अधीनता न सह सकीं और दूसरी शताब्दी ई0 के अन्त में और तीसरी श0 ई0 के प्रारम्भ में उन्होंने उनके खिलाफ अपना-अपना अस्त्र उठा लिया । योधेय जाति एक प्राचीन अभिमानी क्षत्रिय जाति थी जिसे किसी के अधीन रहना असह्य था । रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख (150 ई0) से ज्ञात होता है कि शकों के साथ इनका निरन्तर युद्ध होता रहा । शकमहाक्षत्रप रुद्रदामा के साथ युद्ध करने में इन्हें पराजय मिली और इन की आर्थिक दशा कुछ समय के लिए खराब हो गई परन्तु, बाद में वह पुन: ठीक हो गई, क्योंकि इनका निवास और कार्यक्षेत्र पंजाब तथा राजस्थान का वह क्षेत्र था जिसकी धरती बड़ी उपजाऊ है और जहां साल भर पानी की सुविधा रहती है। अतएव कुछ वर्षों बाद वे फिर समृद्ध हो गये, जैसा कि उनके सिक्कों और मुद्राओं पर मिले 'बहुधान्यक' अभिलेख से मालूम होता है। उधर शकों का पतन प्रारम्भ हो गया था । वे उनकी तरफ से निश्चित थे। अत: समय पाकर उन्होंने कुषाणों के विरुद्ध अस्त्र उठा लिया और उन्हें पंजाब के इस मैदानी भाग से खदेड़ कर बाहर कर दिया । प्राय: सभी इतिहासकारों ने कुषाणों के पतन में योधेयों की बहादुरी, समृद्धि और राजनैतिक दशा को प्रधान कारण माना है। डा0 अल्तेकर का कहना है कि इस पुनीत कार्य में उन्हें एक तरफ कुनिन्दों से सहायता मिली और दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश में विकसित आर्जुनायनों से। वास्तव में ये तीनों बड़ी प्राचीन और बहादुर गण-जातियां थी जिन्होंने समय पाकर अपनी स्वतंत्रता घोषित करने की कोशिश की । अल्तेकर की तो यहां तक मान्यता है कि कुषाणों के खिलाफ इन तीनों ने एक संघराज्य बना लिया था जैसा कि इस क्षेत्र से प्राप्त योद्धेयों के कुछ सिक्कों से मालूम होता है। वास्तव में कुषाणों के पतन में अनेक कारणों की देन थी, लेकिन इन गण-जातियों का इस ओर योगदान अधिक महत्व रखता है ।

कुषाणों के पतन के बाद हिमाचल की राजनैतिक दशा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था । यौद्धेयों ने, जो पंजाब में प्रधान रूप से शासन कर रहे थे, समय पाकर कांगड़ा-चम्बा क्षेत्रों में अपने गणराज्य का विस्तार कर लिया । इसका प्रमाण इस क्षेत्र से मिले उनके कुछ सिक्कों से होता है । उनके सिक्के अनेक प्रकार के हैं जिनमें से कुछ अधिक प्राचीन अर्थात् प्रथम सदी ई0 पू0 के भी हैं । लेकिन इनके बाद के सिक्के जिन्हें लिपि-विकास के आधार पर तीसरी शताब्दी ई0 में रखा जाता है, इस क्षेत्र से मिले हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि कुषाणों के पतन के बाद उन्होंने हिमाचल प्रदेश के उन भागों पर राज्य किया जहां कभी औदुम्बर गण-जाति का शासन था । यह स्थिति सम्भवतः समुद्रगुप्त के द्वितीय आर्यावर्त विजय तक बनी रही जब उसने अन्य अनेक गण-राज्यों के साथ यौद्धेयों को भी पराजित किया और उनके राज्य एवं कार्य-क्षेत्र पर अधिकार कर लिया । ऐसी सूचनायें हमें उसकी प्रयाग प्रशस्ति में मिलती हैं जिसमें उसकी विजयों तथा राजनैतिक नीतियों का वर्णन मिलता है ।

हिमाचल के इस क्षेत्र के कुछ भागों से कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं जिन्हें तीसरी शताब्दी ई0 में आसानी से रखा जाता है । एलन महोदय इन्हें प्राचीन औदुम्बर जाति से सम्बन्धित मानते हैं जो यहां प्राचीन काल में शासन कर रही थी। उनका कहना है कि कुषाणों के पतन के बाद इस क्षेत्र में उनका भी पुनरुत्थान हुआ और अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने के लिए उन्होंने यहां अपना सिक्का चलाया, परन्तु यह मत अधिक समीचीन नहीं मालूम होता है क्योंकि इनके सिक्के प्राय: होशियारपुर जिले से मिले हैं । उनका आकार-प्रकार भी उन्हें औदुम्बरों के प्राचीन सिक्कों से अलग करता है । राजाओं का नामान्त 'मित्र' शब्द भी इन शासकों को किसी दूसरे राजवंश से सम्बन्धित बताता है । वास्तव में उनके सिक्के और उन पर मिलने वाले चिन्ह एवं प्रतीक उन्हें मथुरा के पांचाल राजवंश से अधिक जोड़ते हैं । ऐसा लगता है कि कुषाणों के राज्यकाल में उन्हें इस क्षेत्र में शासन चलाने के लिए भेजा गया था जिन्होंने उनके पतन के बाद यहां अपने एक लघुराज्य की स्थापना की, परन्तु वे बहुत दिनों तक स्वतन्त्र न रह सके । सम्भवतः यौद्धेयों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने

उन्हें झुकना पड़ा । उनकी सत्ता की सूचना हमें चौथी शताब्दी के मध्य तक नहीं मिलती, क्योंकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है । वैसे यह भी उल्लेनीय है कि उनके सिक्कों पर उन्हें राजा ही कहा गया है जब कि ई0 की इन शताब्दियों में स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान महान शासक को 'महाराज' की उपाधि दी जाती थी। इस व्याख्या से भी उनकी राजनैतिक दशा समझने में मदद मिलती है । सम्भव है कि वे किसी महान् शक्ति के अधीन रह कर शासन कर रहे थे जिसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

कुषाणों के पतन के बाद प्राचीन जाति कुनिन्दों ने भी गणराज्य की पुन: स्थापना की और नये सिक्के चला कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा की । उनका कार्यक्षेत्र सतलुज और यमुना नदियों की ऊपरी घाटियां मालूम होती हैं । दूसरी शताब्दी ई0 के अन्तिम चरण में और तीसरी शताब्दी ई0 में प्रचलित उनके सिक्के काफी मात्रा में मिलते हैं । ये कुषाणों के ताम्र सिक्के की नकल में बने बड़े और मोटे सिक्के हैं । इनके एक तरफ हिरण, वृक्ष और नदी की आकृतियां बनी हैं और दूसरी तरफ भाला धारण किये हुए शिव की मूर्ति बनी हुई है । साथ में 'भागवत छत्रेश्वर महात्मन:' अभिलेख उत्कीर्ण है, जिससे ऐसा लगता है कि कुनिन्द का गणराज्य भगवान शंकर को समर्पित किया गया था । वास्तव में, यह क्षेत्र कुनिन्दों के गणराज्य में आ गया था और उसके प्रशासकों ने इस धर्म को स्वीकार कर लिया था । वे शैव दार्शनिकों और विद्वानों के प्रभाव में रह रहे थे अतएव उनके सिक्कों पर इसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था ।

कुनिन्दों ने प्रारम्भ में यौद्धेयों के साथ काम किया था और कुषाणों के विलय में सशक्त भाग लिया था । उसके बाद प्राय: एक शताब्दी तक उन्होंने स्वतन्त्र शासन किया । लेकिन, ऐसा लगता है, वे बहुत दिनों तक यौद्धेयों के सहायक और मित्र न रह सके । आपसी स्वार्थों ने और यौद्धेयों की विस्तारवादी तथा विजयिनी नीति ने सम्भवतः तीसरी श0 ई0 के अन्त में उन्हें स्वतन्त्र न रहने दिया । पहाड़ी राज्य होने के कारण यौद्धेयों की समृद्धि के मुकाबले उनकी आर्थिक दशा भी उतनी अच्छी न थी, अतएव वे यौद्धेय गणराज्य में धीरे-धीरे समाहित हो गये । सम्भवतः इसी लिए प्रयाग-प्रशस्ति में उनका उल्लेख न तो पराजित गणराज्यों की तालिका में है और न उन्हें प्रत्यन्त राज्यों में ही गिनाया गया है । हो सकता है कि उस समय तक उनकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई थी कि उन्होंने समुद्रगुप्त की शक्ति और कूटनीति के सामने बिना युद्ध किये ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया अतः प्रयाग-प्रशस्ति में उनका उल्लेख करना महत्वपूर्ण ही न समझा गया, कुछ भी हो गुप्त साम्राज्य के बिकास और विस्तार के साथ-साथ हिमाचल के ये राज्य एवं गणराज्य समाप्त हो गये और चौथी शताब्दी ई0 के मध्य से भारत के ही नहीं, हिमाचल के इतिहास में भी एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ ।

—इतिहास विभाग,
हिमाचल प्रदेश वि0 वि0, शिमला-5.

वैदिक सोमरस और कुल्लुई सूर

—मोलू राम ठाकुर

बैदिक काल के भोजन-पान में दो पेय-पदार्थों का प्रमुख नाम आता है—सोम और सुरा । सोम आर्य जाति का प्राचीन पेय रहा है । यह शराब नहीं था, बल्कि सोम नामक जड़ी-बूटी का रस था । यह प्रायः सोमयज्ञ में देवताओं को अर्पित करके पिया जाता था । इसके पीने से मन का पाप दूर होता था, असत्य का नाश होता था, और सत्य को वृद्धि मिलती थी । इसीलिए वैदिक साहित्य में सोम की प्रशंसा की गई है । इसके प्रयोग से सद्विचारों का संचार होता था और आध्यात्मिक प्रकाश प्रज्वलित होता था । इस के विपरीत सुरा शराब थी । इस के प्रयोग से बुद्धि, धैर्य और स्मरण शक्ति नष्ट होती है । धर्म, अर्थ और काम सभी में ह्रास होता है। इसीलिए प्राचीन साहित्य में इसकी निंदा की गई है । ऋग्वेद क अनुसार सुरापान करने वाले लोग 'सुराम' रोग से पीड़ित होते थे तथा उन की पाप की ओर प्रवृत्ति होती थी (10.131.5) । वैदिक साहित्य में सोम और सुरा का इन शब्दों में अन्तर बताया गया है—सोम सत्य, अभ्युदय तथा प्रकाश है और सुरा असत्य, पतन तथा अन्धकार है । (शतपथ ब्रा05.1; 5.28)

हिमाचल प्रदेश के कुल्लू क्षेत्र में अब भी सोम और सुरा का प्रयोग होता है । वैदिक साहित्य में सोम और सुरा के प्रयोग के बारे में अनेकों संदर्भ आते हैं । परन्तु सोम पौधा क्या है ? यह आज कोई नहीं जानता । आजकल देश-विदेश में इस सम्बन्ध में शोधकार्य हो रहे हैं । ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं से ज्ञात होता है कि मौजवत नाम का पहाड़ सोम के लिए प्रसिद्ध था और यहां सबसे अधिक सोम होता था—सोमयेव मौजवतस्य (ऋग्वेद 10.34.1) । विद्वानों का मत है कि यह पहाड़ी अफगानिस्तान के बलख में है । परन्तु कुल्लू में भी मझाट नाम का स्थान और पर्वतशिखर है, इसके पास ही 'सोमसी' नाम का गांव है। क्या इस से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वैदिक साहित्य का मौजवत यही पहाड़ हो और सोम यहीं पैदा होता हो। इस बात की पुष्टि इस क्षेत्र में प्रति वर्ष बीस भादों के दिन शिखर और पौधा पूजा से स्पष्ट हो जाती है । उस दिन लोग पहाड़ों की चोटियों पर जा कर प्रातः ही पहले विशेष भोजन बना कर देवताओं के नाम चढ़ाते हैं और उसके बाद इधर उधर हरे घास पर हाथ मार कर ताजी ओस चाटते हैं । इस उद्देश्य से विशेषतया वे लोग उन्नीस भादों को ही पहाड़ों की चोटी पर जा कर डेरा डालते हैं जो दीर्घकालिक घातक रोगों में ग्रस्त हों या जो स्त्रियां बांझ हों, और प्रातः ही सब से पहले उठ कर पर्वत-शिखा पर दूर-दूर तक चल कर ओस पीने का क्रम जारी रखते हैं। उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में सोम को मद के रूप में कम तथा स्वास्थ्यवर्धक द्रव्य के रूप में अधिक दिखाया गया है, 'यह सभी रोगों को दूर करने में समर्थ है, इस के सेवन से वक्तृताशक्ति बढ़ती है और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है (ऋग्वेद 10.71.10) ।' बीस भादों के प्रातः काल कुल्लू के तारापुर गढ़, मोजग और मझाट पर्वत शिखरों पर ओसबिन्दु सेवन का ठीक यही प्रभाव है। लोग प्रायः पीठ के पीछे से हरी घास पर हाथ मार कर ओस बिटोरते हैं । आज किसी को उस जीवनदायिनी की पहचान नहीं है, जिस किसी भाग्यशाली के हाथ लगी, वह कष्टों से मुक्ति पाता है । बांझपन से मुक्ति के तो अनेक उदाहरण देखने को आए हैं ।

हिमाचल के इन पर्वत-शिखाओं पर केवल बीस भादों को ही शिखर पूजा और ओस-सेवन की प्रथा क्यों है ? इस का सम्बन्ध भी हमारी वैदिक परम्पराओं से है। सोम को गिरिष्ठ और पर्वतावृद्ध नाम भी दिए गये हैं जो

इस के वर्षा ऋतु में गिरि-पर्वतों पर पैदा होने के प्रतीक हैं । प्राचीन साहित्य में ऐसा उल्लेख आता है कि सोम वर्षा द्वारा पृथ्वी पर लाया जाता है । इससे यह अभिप्राय हो सकता है कि सोम की उत्पत्ति वर्षा ऋतु में पर्वतों पर होती है । वैदिक साहित्य में यह भी उल्लेख आता है कि सोम को श्येन पक्षी स्वर्ग से लाया था । वास्तव में पर्वत शिखरों पर उत्पन्न होने के कारण ही इस का सम्बन्ध स्वर्गलोक से जोड़ा गया है । भादों का महीना इस पहाड़ी क्षेत्र में वर्षा ऋतु का प्रमुख समय है। श्येन पक्षी को कुल्लू की स्थानीय भाषा में शीण कहते है और यह पर्वत शिखरों पर वास करता है ।

सुरा को आज लोग अपनी भाषा में 'सूर' कहते हैं। कुल्लू और इसके निकटवर्ती हिमाचल प्रदेश के क्षेत्रों में इसका बहुत रिवाज रहा है। मेले-त्यौहार, शादी गमी, 'जौट-ज्वार' कोई भी कार्य इसके बिना पूरा नहीं होता । परन्तु यह शराब कदापि नहीं है। यहां पेय पदार्थ मुख्यतः तीन रहे हैं—चाकटी, सूर और सौरा। चाकटी केवल चावल और जौ की बनती है । वैदिक सोमरस का भी जौ (सं0-यव), दूध और दही के साथ सेवन किया जाता था। इसी मिश्रण के कारण इसे याशिर भी कहा जाता था (ऋग्वेद 5.26.5) । 'सूर' केवल कोदा अन्न की बनती है। और कोई अन्न इस में नही पड़ता। इस में मादकता बहुत कम होती है । यह बलवर्धक अधिक है । साधारण निवासियों का यह पेय-पदार्थ है । 'सौरा' शराब है । यह चाकटी, सूर, सेब और अंगूर आदि के आसवन से तैयार होता है । हाल ही तक 'सौरा' का कुल्लू में कोई प्रचलन नहीं था । आज भी यह केवल भ्रष्ट और दूषित संगति का सेवन है । साधारण लोगों में इसका प्रयोग नहीं है । साहित्य में सुरा का अनेक रूपों में उल्लेख मिलता है । परन्तु यह स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के आरम्भिक काल में जिस सुरा के गुण बताए गए हैं वह रामायण काल की सुरा से बहुत भिन्न थी । रामायण में वारुणी, सौवीरक, आसव, शर्करासव, मैरेय, माध्वीका आदि अनेक प्रकार की सुरा का उल्लेख है । ये पूर्णतया शराब या उपर्युक्त 'सौरा' है। ऐसी सुरा की वैदिक साहित्य में भरपूर निंदा की गई है । इसे मांस और जुआ के समान निन्दनीय बताया गया है।

सोम कौन सा है ?

सूर तैयार करने की दो पद्धतियां हैं—पहली पद्धति औषधि से सम्बन्धित है और दूसरी पद्धति मूल 'सूर' से । परन्तु वास्तविक अभिरुचि औषधि निर्माण से है। इसका अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । परन्तु औषधि वास्तव में अनेक जड़ी-बूटियों का मिश्रण होता है । इस मिश्रण को लोग 'ढेली' कहते हैं । ढेली के निर्माण के लिए सौ से अधिक जड़ी-बूटियों का प्रयोग होता है । परन्तु इन में मुख्य साठ हैं । इन साठ का विवरण अत्यन्त रोचक है, क्योंकि अधिक सम्भव है इन्हीं में से कोई सोम बूटी भी हो । इन जड़ी-बूटियों को बीस भादों के दिन ही भूखे पेट एकत्रित करना होता है और इन्हें वही आदमी एकत्रित करता है जिसे इन की पहचान हो । प्रमुखतः ये सभी जड़ी-बूटियां पहाड़ों की चोटियों पर मिलती हैं। यद्यपि इनका वैज्ञानिक विश्लेषण अभी नहीं हुआ है परन्तु लोगों को इन के गुणों का ज्ञान है । यहां उन का सामान्य परिचय जरूरी है । जड़ी-बूटियों के नाम स्थानीय हैं यद्यपि इन में से अनेक का परिचय आयुर्वेदाचार्यों को ज़रूर है । इनका ज्ञान अब आए दिनों कम होता जा रहा है और सम्भवतः समाप्त हो जाएगा । स्थानीय भाषा में इन के नाम गुणों के अनुसार हैं—यथा (1) नकटीशी–चपटे, छोटे पत्ते पीले फूल, अमल–युक्त गन्ध जो नाक को लगती है । पाचन शक्ति वर्धक है । कब्ज निवारण के लिए प्रयोग किया जाता है ; (2) गुड़ला बड़ा—चौड़े नर्म पत्ते, नीला फूल, पत्तों का स्वाद मीठा; (3) गुड़ला छोटा–पत्ते कदरे छोटे, फूल का आकार भी छोटा, परन्तु फूल श्वेत । ये दोनों भूख बढ़ाते हैं ; (4) बराघा-रा-जौफा–जैसा ऊपर पौधा वैसे ही भूमिगत जड़ों का आकार बाघ के पंजे की तरह, पत्तियां बारीक; (5) डढाण—इसे ठठामाणा भी कहते हैं । बारीक पत्ते, चौड़ा घना पौधा, बीच में एक डंडी सी निकलती है जिस पर एक फूल निकलता है जो प्रायः कली रूप में ही रहता है। यह बुझते हुए दिल को नव-शक्ति समंवित

करता है। दिल घट रहा हो तो लोग इस की जड़ें चबाते हैं; (6) चिड़ी-चूण—सीधा पौधा, पत्ते मोटे और लम्बे फूल नहीं
निकलते, फल ही दिखाई देते हैं जो पक कर लाल हो जाते हैं जैसे फलों का गुच्छा हो, दाने अनार के दाने की तरह होते ह।
(7) घूमण–नीला फूल, छोटे तथा नोकदार पत्ते, सख्त कड़वी गन्ध। इस के खाने से सरूर सा आ जाता है;
(8) बकर्रशिंगी–सीधा पौधा, सिर पर पीला फूल जिस का रूप ठीक बकरे के सींग की तरह मरोड़दार और तिरछा होता है।
यह भूख की कमी दूर करता है। खांसी व दमे के लिए लाभदायक; (9) बराघा-री-शाई–जंगली सरसों, पत्तों का रंग लाल,
अन्यथा ठीक सरसों का रूप (10) शरबरा–श्वेत फूल, पत्ते भी कुछ सफ़ेद, आस पास सुगन्ध फैलाता है। अजीर्णनाशक;
(11) ओशतली–बहुत ही ऊंचाई पर दस हज़ार फुट से ऊपर पैदा होती है। बारीक छोटे पत्ते जिन पर हर समय, कड़कती
धूप में भी ओस (शबनम) की बूंदें चिपकी रहती हैं। पुराने बुखार की दवा है; (12) कौड़खरू शेता—
पौधा केवल सीधा डंठल, पत्ते और फूल श्वेत रग के, जड़ें पीली; (13) कौड़खरू काला—
पत्तों का ऊपरी भाग श्वेत, परन्तु निचला तरफ़ बिलकुल काला। पौधों की रंगत कदरे लाल।
दोनों कौड़खरू ज्वर की उत्तम औषधियां हैं। बिगड़े और पुराने बुखार के उपचार के लिए प्रयोग करते
हैं। इनका स्वाद बहुत कड़वा होता है; (14) निबली–सीधा डंठल, केवल एक डाली उस पर एक ही पीला
फूल लगता है; (15) निबला–पत्ते और फूल निबली की तरह, परन्तु पौधा झाड़ीदार। ये दोनों हर प्रकार
के द्रव को निर्मल बनाते हैं। उदर विकार में उपयोगी; (16) डोरी–पौधा लम्बा, फूल लाल। कई मन जौ
के आटे की जब 'ढेली' बनाई जाती है तो जितनी भी सैंकड़ो में रोटियां बनेंगी, पकने पर हर एक रोटी के बीचों-
बीच चौड़ाई की ओर से लाल धारी बनी होती है। यह इस का प्रभाव है। धारी जितनी लाल होगी, उतनी
ही ढेली अधिक प्रभावशाली होगी; (17) गिद्धा-मुसली—लाल डंठल, सीधी डाली। शरीर में स्फ़ूर्ति लाती है।
इस में लड़ाई के गुण होते हैं, यथा गद्दा (मुगदर) और मूसल साथ रखने की प्रवृत्ति; (18) हुण-
मणाट—लता-बेल रूपी पौधा आध फुट से ऊंचा नहीं होता; (19) कटारी–कटार हथियार के आकार के मोटे
पत्ते आगे से नोकदार। हाज़मे के लिए इस को पीस कर औषधि के रूप में खाते हैं। कब्ज़ के लिए रामबाण;
(20) कौड़ी कटारी–कटारी के ही रूप की, परन्तु पौधा और पत्ते छोटे। कुनीन की तरह कड़वी, ज्वर की उत्तम
औषधि; (21) डुंडलू कूरी–पीले रंग के बारीक पत्ते। बारीक नोकदार दाने जो कपड़ों में चिपक जाते हैं;।
(22) बांदर छौली–जंगली मक्का, पौधा ठीक मक्की की तरह परन्तु आकार छोटा। इसे मंगोहलू भी कहते हैं।
इस में सफ़ेद रंग के फूल लगते हैं जो शीघ्र झड़ जाते हैं; (23) चिकटी कूरी–ऊपर सं० 21 से भिन्न, फुट
कण्डा की पहाड़ी किस्म, मोटा और चौड़ा पत्ता, चिकने फ़ल जो कपड़ों के साथ चिपक जाते हैं। कई प्रकार
की औषधियां बनती हैं, सांप काटे की उत्तम दवा, पत्थरी रोग की बढ़िया औषधि; (24) बूढी रा लोगड़–
एक लम्बा और सीधा पौधा, कोई शाखायें नहीं, पत्ते लगते और गिरते जाते हैं। पौधा सीधा डंडा रह जाता है
जिस के गिर्द रुई की तरह नर्म फूल चिपके रहते हैं। बच्चों की पेट-दर्द, ज्वर और जुकाम में क्वाथ रूप में बढ़िया
औषधि; (25) शठ जलाड़ी—सीधा पौधा जिस की अनेक (साठ) जड़ें होती हैं। सफ़ेद फूल, चौड़ा पत्ता,
पेट दर्द और ज्वर की दवा, बदहज़मी को दूर करती है; (26) कोठा—इस के पत्ते छोटे, फूल भवन (कोठी)
की तरह अनेक तहों वाला। इसके फूलों का रस खांसी तथा जुकाम के इलाज में उपयोगी, इस के पत्ते अजीर्ण
में भूख बढ़ाते हैं; (27) वण जुआणे–अजवायन की सुगन्ध और गुण वाला पौधा जिस का तना ज़मीन के साथ
फैलता है, फूल जामुनी रंग के, पेट दर्द की उत्तम दवा, श्वास रोग, दमा तथा काली खांसी में इस का प्रयोग
करते हैं। दांत दर्द की भी औषधि; (28) शुतपुतली–छोटा पौधा परन्तु लम्बी शाखें, पत्ते भी लम्बूतरे नोकदार,
दृष्टि की शक्ति को बढ़ाती है; (29) बलातर–छोटा पौधा, सफ़ेद पत्ते, गुलाबी रंग के फूल। बलवर्धक जड़ी
है। स्फ़ूर्ति और उत्तेजना बढ़ाती है; (30) टुम्बली मुंडी—चौड़ा पौधा जिस के पत्ते आगे से पृथ्वी की ओर
झुके होत हैं। नींद लाने की औषधि है; (31) हौंउली—एक फलीदार पौधा, फलियों की स्वादिष्ट चटनी
बनती है। पौधा 2 फुट के लगभग ऊंचा, चौड़े पत्ते, जहां उगने लगता है तो सारे क्षेत्र में फैल जाता है;

सोमसी

(32) कौथं दुधला—इस के पत्तों, जड़ों और फूलों से दुधिया रस निकलता है, जो दुर्बलता के इलाज में उपयोगी
होता है। इससे मीठी सुगंध आती है; (33) कायल—यह एक बड़ा वृक्ष है जो चील की तरह इसी जाति
का पेड़ है। इसकी सूई की तरह नर्म कौंपलें कई बीमारियों में काम आती
है, इस का तेल कफ़ आदि को दूर करता है, चर्म रोग में भी उपयोगी है; (34) भेरल-बरास (बराह या
बुरास) की जाति का वृक्ष है, परन्तु इस पर बरास की तरह लाल फूल नहीं आते। इस की कौंपलें पेचिश,
सिर दर्द और बवासीर के इलाज में प्रयुक्त होती हैं; (35) डानकू—एक छोटा नर्म पौधा है जिस पर तीन
या चार फूल लगते हैं, फूल में बड़े आकार का फल-सा लगता है, जो खाने में मीठा होता है, पौधा नीचे की ओर
झुका रहता है, नींद लाने के लिए उपयोगी है; (36) जुजला—पौधे के तने और पत्तों पर बाल-से उगे होते
हैं; (37) दूध-छाउंली—छोटा सीधा पौधा, छोटे पत्ते। इस की जड़ों और पत्तों से दुधिया रस निकलता है
जो बड़ा बलवर्धक होता है; (38) मटोशल—बहुत ऊंचाई पर होता है। बारीक पत्ता, फूल नहीं होते।
जड़ों में रेशे-से होते हैं जो ऊन की तरह लगते हैं। जुकाम, नजला, सिर-दर्द की औषधि है; (39) वण मिसरी—
चौड़े पत्ते, डण्ठल छोटी, फूल गुलाबी। इस की जड़ें मीठी होती हैं। गवाले उखाड़ कर खाते हैं। खांसी, बुखार
पेचिश की लाजवाब दवाई। शूल, पेट-दर्द में प्रयुक्त होता है,। (40) कोदरा—कोदा अन्न, इस के नर्म पत्ते
डाले जाते हैं। सख्त अन्न है, परन्तु पचाने वालों के लिए बड़ा बलवर्धक होता है; (41) बराबी री चाई—
बारीक पत्ते, खेतों में आम उगता है, बारीक दाने जो पकने पर लाल हो जाते हैं। फोड़े फिन्सियों की उत्तम
औषधि; (42) काउणी—कंगणी अन्न, लम्बा पौधा जिस के सिर पर बालियों में अन्न होता है, इस के नर्म
पौधे को प्रयोग में लाया जाता है; (43) डेढू घाह—खेतों में आम उगता है, पत्ते व फूल गोल होते हैं, फ़ल
भी गोल; (44) घरोटलू घाह—अर्थात् बनफ़शा, इस से सभी परिचित हैं, पत्ते गोलाकार, फूल भी गोलाकार
रंग गुलाबी। खांसी, जुकाम, कफ़, क्षय, ज्वर, गुर्दे के दर्द में अत्यन्त लाभदायक, (45) चूतड़ तौड़ी—एक सीधा पौधा
या डाली जो ऊपर और नीचे से बारीक और बीच से मोटी होती है। अर्थात् नीचे से एक जड़ उस पर डण्ठल,
ऊपर डण्ठल में तीन तहें, सिर पर फिर एक तह। हर प्रकार की तेज़ दर्द को हटा कर आराम देती है;
(46) लौड़-घुरशू—पौधा बारीक, पत्ते छोटे फ़ली की तरह मरोड़दार, गूढ़ा-गुलाबी फ़ूल; (47) गौठू घाह—
फ़ूल और पत्ते गोल, पौधा छोटा, पेट दर्द की दवा; (48) ठाण्डी—बारीक डली, (चाभ) तालाबों के खड़े
पानी में उगता है, बारीक लम्बे पत्ते, सर्दी, जुकाम आदि में जुशांदा के रूप में बड़ा लाभदायक; (49) टेंडा
शेक—बहुत ऊंची शिखरों पर उगता है, छोटा पौधा। इस के पत्ते चबाने से नशा-सा आ जाता है; (50)
शौठ-लौंगरिया—सीधी एक जड़ परन्तु ऊपर पौधा घना तथा फैला हुआ अर्थात् साठ शाखाओं वाला। बलवर्धक
औषधि है; (51) टूट गोंठा या सोम लता—बहुत ऊंचाई पर पैदा होता है। टहनियां धारीदार, पत्ते छोटे और
पतले, फूल बारीक और छोटा, फल गोलाकार गुलाबी या लाल रंग का; शरीर में उत्तेजना लाता है।
(52) रिगलू घाह–बारीक, छोटे पत्ते वाला घास, पत्ते ततैया की शक्ल के होते हैं, (53) छिकछिकी—छोटा तथा
घना पौधा, बारीक पत्ते, फ़ोड़े-फिन्सियों की दवाई है; (54) भोंग (भंग) राहुल सांकृत्यायन ने तो भंग को ही
सोम कहा है। परन्तु स्थानीय लोग भांग के नशे को नीच स्थान देते हैं। उनके अनुसार भांग का नशा डरपोक होता है,
साहस और हिम्मत का अभाव रहता है। परन्तु भांग भूख खूब बढ़ाता है, हाजमा तेज करता है; (55) गनकौकड़
एक लता होती है जो बहुत दूर तक फैलती है, पत्ते लम्बूतरे, फल बेर की तरह होते हैं जो पकने पर लाल हो जाते
हैं, स्वाद मीठा होता है। इस की जड़ें कई दवाइयों में डाली जाती हैं (56) कुंगू कैसर, (57) निहाणी-सीधा
पौधा, छोटे छोटे पत्ते सफ़ेद फूल, बुखार, जुकाम में काढ़ा बना कर दिया जाता है; (58) चोरा—बहुत ऊंचाई
पर होता है, इस की जड़ें कई दवाइयों में डाली जाती हैं; (59) दुधलू माहुरा—काला माहुरा या संखिया
नहीं, बल्कि उसी की जाति का, माहुरे के बाहर दूसरा माहुरा होता है। इस के पत्तों, जड़ों में दुधिया रस
निकलता है। गठिया आदि बीमारियों के इलाज में लाभदायक (60) नर विषि—काला माहुरा अपने चारों
ओर दूर तक कोई फल पौधा उगने नहीं देता, इर्द गिर्द सब कुछ जला देता है। यही इस की सब से बड़ी पहचान

है। यह सीधा पौधा होता है। इस के चारों ओर इसी प्रकार का दूसरा पौधा होता है जो इस की रक्षा करता है या जिस से बाहर के पौधे, झाड़ियां रक्षा पाती हैं। इन दोनों के बीच ही नरविषि होती है। प्रायः यह मिलती नहीं है। यदि दुधलु माहुरा और नरविषि मिल जाए तो औषधि उत्तम बनती है।

ढेली औषधि का निर्माण

ऊपर कथित सभी जड़ी-बूटियों को, मटोशल को छोड़, शेष सब को पहले बारीक काटा जाता है फिर सब को ओखली में डाल कर मूसल से खूब बारीक कूटा जाता है। मटोशल शेष जड़ी बूटियों से नहीं मिलती। इसे अलग से काटा और कूटा जाता है। बारीक कूटने के बाद दवाई प्रयोग के लिए तैयार हो जाती है।

ढेली कई मन जौ के आटे की एक साथ बनती है। इतनी ढेली इकठ्ठा बनाने का मुख्य कारण यह है कि ढेली वर्ष में केवल एक बार बीस भादों के एक दो दिन के अन्दर बनती है, और गांव में केवल एक दो घरों में तैयार होती है, जिन के मालिकों को उपर्युक्त सभी जड़ी बूटियों का ज्ञान होता है। ढेली की सभी गांव वालों को आवश्यकता होती है, परन्तु जड़ी बूटियों की जानकारी सब को नहीं होती। अतः हर परिवार अपनी साल भर की जरूरत के अनुसार अपने घर से मन आध-मन जौ का आटा उस घर विशेष में पहुंचा देता है। इस तरह उस घर में कई मन आटा इकट्ठा होता है। उस आटे का अंदाज़ा ले कर जड़ी बूटियों को अपेक्षित मात्रा में इकट्ठा करके पूर्व कथित रूप से कूटा जाता है। तब इकट्ठे हुए आटे को फ़र्श पर उंडेल दिया जाता है। आटे के ढेर को इस तरह सजाया जाता है कि एक कटोरे का रूप धारण करे। बीचों बीच बने कूपक में कूटी हुई जड़ी बूटियों को एक बड़ी लोहे की छाननी में पानी के साथ छाना जाता है। जब सारी जड़ी बूटियां छान ली जाती हैं तब आटे को गूंधना आरम्भ करते हैं। एकत्रित हुए सभी लोग पहली बार हाथ डालते ही 'पोली' 'पोली' शब्द का उच्चारण करते हैं, और आटे को मुट्ठी में लेकर एक दूसरे पर फैंकते हैं। घड़ी भर के लिए एक तमाशा लग जाता है, जब आटे की मुट्ठियां एक दूसरे पर बरसती हैं। चूंकि आटा बहुत अधिक होता है, इस लिए उसे हाथ से गूंधने का प्रश्न नहीं उठता। उसे पैरों से गूंधा जाता है। अच्छी तरह मलने के लिए सभी आटे के ढेर के चारों तरफ गोलदायरे में बैठ जाते हैं, एक रस्सी ले कर उसे सभी पकड़ कर टांगों में आटे को खूब मलते हैं।

इस प्रकार पैरों से गूंध कर आटा कुछ सख्त रखा जाता है। इसी प्रयोजन के लिए लकड़ी के चौखट बने होते हैं। हर एक आदमी एक-एक चौखट लेकर उस में आटा डालता है और फिर उसे पैर से खूब दबाया जाता है। जब यह निश्चय हो जाए कि आटा मज़बूती से दब गया है तो चौखट को एक किनारे से खोल देते हैं और आटे की एक चौरस सी मोटी रोटी बन जाती है जिसे 'बीमा' कहते हैं। इस प्रकार सारे आटे के दो चार सौ 'बीमे' बनते हैं। उन्हें एक कमरे में संवार कर रख देते हैं। दो-अढ़ाई महीने के बाद बीमें सूख जाते हैं। किसी एक बीमा को बीच से तोड़ कर देखा जाता है। बीचों बीच 'डोरी' जड़ी-बूटी के कारण लाल लकीर सी लगी होती है। तब सारे बीमों को आटे के हिसाब से सभी लोगों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार औषधि—निर्माण की क्रिया समाप्त हो जाती है। यह उल्लेखनीय है कि पूर्व कथित जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त आटे के ढेर में चार बलियां भी डाली जाती हैं। ये बलियां शहद की मक्खी, मकड़ी, घरेलू मक्खी और तिलचटा की होती हैं। इन में से मधु मक्खी तलाश करना कठिन होता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने छत्ते से मधु मक्खी लेने नहीं देते क्योंकि यह विश्वास है कि वह छत्ता नष्ट हो जाता है। यह औषधि अर्थात् 'ढेली' सूर के लिए मुख्य साधन है। इस के बिना सूर जम नहीं सकती अर्थात् बनती नहीं है। परन्तु इस का प्रयोग जौ या चावल की चाकटी में नहीं हो सकता। वहां 'फाफ' का प्रयोग होता है जिस के निर्माण में काला माहुरा और नरविषि का प्रयोग अनिवार्य बताया जाता है।

सोम मूलरूप में अनुप्राणित पेय था जिस से स्वास्थ्य, सद्विचारों और आध्यात्मिक प्रकाश की वृद्धि होती थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि सोम में मादकता भी थी, लेकिन बहुत कम मात्रा में। इस मद में लोग अपनी दरिद्रता को भूल जाते थे और अपने को धनी समझते थे, परन्तु सोम का मद व्यक्ति को कर्तव्यपथ से च्युत नहीं करता था। (ऋग्वेद 8.48) ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि वैदिक काल में सोम का अभाव सा हो गया था और तब सोम के स्थान पर कुछ अन्य लताएं चुनी गई थीं, पर उन में सोम की सी उत्कृष्टता नहीं थी (ऋग्वेद 1.5.7)। ढेली में पड़ने वाली पूर्वोक्त जड़ी-बूटियों में सोम ढूंढना कठिन हो सकता है परन्तु बाद की लताएं अवश्य ही इन में से कुछ हो सकती हैं। इन में से अनेक में जीवन शक्ति का संवर्धन करने के गुण हैं। वे केवल अनुसन्धान की अपेक्षा रखते हैं।

सूर निर्माण-क्रिया

वैदिक काल की सुरा सम्भवतः अन्न को आसवन करने से तैयार होती थी, क्योंकि इस के निर्माण में अनेक प्रकार के फल, फूल, पत्ते, रसायन, छाल, गुड़ के अतिरिक्त बीजों और अन्न का उल्लेख आता है। इस दृष्टि से सुरा का पर्यायवाची कुलुई में 'सौरा' है जिस में सुरा की तरह आसवन की प्रक्रिया समाविष्ट है और यह अन्न और सेवादि फलों से आसुत होता है। परन्तु इस के विपरीत 'सूर' में आसवन का कदापि स्थान नहीं है। यह केवल ऊपर कथित जड़ी-बूटियों के प्रभाव से तैयार होती है, और इस में मादकता भी बहुत कम होती है। इस क्षेत्र में 'सौरा' का पान आम घरों में नहीं है। यह केवल भ्रष्टसंगत का पेय पदार्थ है। ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा—संस्मरण में उस समय की तीन तरह की मदिराओं का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि क्षत्रिय लोग अंगूर और ईख की मदिरा पीते थे। चुआई हुई सुरा वैश्य पीते थे तथा बौद्ध—भिक्षु और ब्राह्मण गन्ने और अंगूर का रस पीते थे। 'सूर' इन मदिराओं की भी किसी श्रेणी में नहीं आती। यह पूर्णतः कोदा अन्न में साठ से ऊपर जड़ी-बूटियों का मिश्रण है।

वैदिक काल के परवर्ती साहित्य में कई स्थानों पर सोम को एक बूटी का रस न हो कर अनेक बूटियों का रस कहा गया है। अनेक स्थानों पर सोम को निकालने का तरीका दिया गया है और यह स्पष्ट होता है कि जड़ी-बूटियों को पाषाण पर रख कर कूटा जाता था। सिल बट्टे में पीस कर उन का रस निकाला जाता था और फिर छान कर काष्ठ या धातु के पात्र में रखा जाता था। यह प्रक्रिया ऊपर कथित ढेली की जड़ी-बूटियों के रस से मेल खाती है। सूर बनाने के लिए कोदा अन्न को पीस कर आटा तैयार किया जाता है। आटे को गूंध कर बिना रोटी पकाए धातु के बड़े बर्तन में रखा जाता है। इसे चेडुर कहते हैं। जब चेडुर आठ-दस दिन का हो जाए तो उस की बड़ी-बड़ी रोटियां बनाई जाती हैं। रोटियों को छोटे टुकड़ों में तोड़ कर मिट्टी के घड़ों में डाला जाता है, साथ में पर्याप्त मात्रा में पानी डाला जाता है। दो दिन के बाद इन घड़ों में रोटी की मात्रा के अनुसार ढेली कूट कर तथा छान कर डाल दी जाती है। सोलह-बीस किलो आटे के लिए लगभग एक किलो ढेली पर्याप्त होती है। घड़े को मिट्टी आदि से मजबूती से बन्द कर दिया जाता है। बारह-पन्द्रह दिन के बाद सूर तैयार हो जाती है। जड़ी-बूटियों के प्रभाव से आटा घने पानी में बदल जाता है। यही सूर है। परन्तु इस में सुरा या सौरा जैसी मादकता नहीं होती।

यद्यपि वैदिक साहित्य में सोम और सुरा का बहुत उल्लेख आता है परन्तु उसी काल में ही ऋषियों ने सुरा को कभी आदर का स्थान नहीं दिया है क्योंकि इस के पीने से मानव को बुराइयों और असत्वृत्तियों को उत्तेजना मिलती थी। सुरापान से पाप की ओर प्रवृत्ति होती थी (ऋग्वेद 7.86.6)। इस के सेवन से बुद्धि, धैर्य, स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी लिए इसे मांस और जुए के समान बुरा माना गया है।

—सहज निवास,
मकान सं0 26, शिमला-2

हिमाचल तथा सामाजिक सुधार लहर

—डा० एम० एस० आहलूवालिया

हिमाचल (हिम-बर्फ, अचल-पर्वत) क्षेत्र अब एक संकुचित अर्थ में लिया जाता है तथा यह हिमालय पर्वत श्रृंखला का वह भाग है जिस में हिमाचल प्रदेश[1] का आधुनिक प्रदेश स्थित है।

हिमाचल प्रदेश की पहाड़ी क्षेत्र में स्थित कई छोटी-बड़ी रियासतों को मुस्लिम तथा ब्रिटिश राज्य काल में विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बुशहर से जम्मू और मानसरोवर से कांगड़ा तक के प्रदेश में अनेक राणा और ठाकुरों का निवास था। ये या तो स्वतन्त्र रूप से रहते रहे अथवा केन्द्रीय शासन के अधीन रहे। स्वतन्त्रता से पूर्व की रियासतों में कुल्लू, बुशहर, लाहौल, नालागढ़, 'कहलूर' (आधुनिक बिलासपुर), कांगड़ा,[2] धामी मण्डी तथा सुकेत प्रमुख हैं।

मुगल काल में इन में से अधिकतर रियासतें मुगल साम्राज्य का भाग न हो कर स्वतन्त्र रूप में रहीं। प्रथम महायुद्ध में लगभग सभी रियासतें न केवल आज्ञाकारी रहीं परन्तु इन्होंने ब्रिटिश सरकार को मनुष्य तथा रसद आदि की भी बहुत सहायता दी। स्वतन्त्रता से पहले के हिमाचल प्रदेश में दो प्रकार की पहाड़ी रियासतें थीं। कुछ प्रदेशों पर स्थानीय राजाओं का अधिकार था। इन क्षेत्रों में स्थित निवासियों द्वारा संघर्ष की ब्रिटिश भारत के प्रदेशों के लोगों के राष्ट्रीय आन्दोलन से तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि यहां के लोगों का उद्देश्य रजवाड़ों का पूर्ण रूप से अन्त करना नहीं था।

ई० सं० 1858 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) का अधिकार ब्रिटिश क्राउन (British Crown) के पास आ जाने के पश्चात् शिमला हिल स्टेट्स (Simla Hill States) भारत की दूसरी रियासतों की तरह ब्रिटिश ताज (British Crown) के संरक्षण में आ गई। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत के ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन आ जाने पर रियासती राजाओं का सम्पर्क सीधे तौर पर बरतानवी सरकार से हो गया।[3] बरतानवी राजनीतिज्ञों द्वारा केन्द्रीय सरकार तथा रियासतों के बीच ब्रिटिश ताज ही एक कड़ी है, की

---

1 प्राचीन काल के हिमाचल की पुराणों में वर्णित 'जालन्धर खण्ड' से तुलना की जा सकती है। अतीत में इसे 'देव भूमि' भी कहा जाता था परन्तु आधुनिक हिमाचल एक 30.22–33.12 उतर तथा 60.47–79.97 पूर्व में स्थित पुरानी पहाड़ी रियासतों तथा पंजाब से मिलाये पहाड़ी क्षेत्र को कहते हैं।

2. इन में कांगड़ा की स्थिति विशेष रूप से भिन्न थी। यह प्रदेश अनेक बार मुस्लिम आक्रमणों का शिकार रहा, यथा, महमूद गजनवी, फीरोज तुगलक, अकबर और जहांगीर के आक्रमणों के पश्चात् यह क्षेत्र मुगल सूबेदारों के अधीन रहा।

3. रघुबीर सिंह (उद्धृत) 'इण्डियन स्टेट्स एण्ड दी नियू रीजीम' (बम्बई 1938) पृ० 34

धारणा बड़े नियमित रूप से घड़ी गई ताकि समस्त भारत एक ही शक्ति के अधीन समझा जाये। इस प्रकार शिमला हिल स्टेट्स जैसी छोटी रियासतों की स्वतन्त्रता न के बराबर रह गई'[1]।

प्रस्तुत लेख में रियासतों के नागरिकों में जागृति तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार लाने में सामाजिक संस्थाओं के योगदान तथा इस का प्रभाव बताने का प्रयास किया गया है।

पहाड़ी क्षेत्रों में जन-संघर्ष प्रजामण्डल आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ। प्रजामण्डल आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य शासन प्रणाली में सार्वलौकिकता लाना तथा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के लिये अन्य सामाजिक सुधार करना था। रियासतों का शासकवर्ग भारतीय समाज का एक अंग था परन्तु इन रियासतों के अधिकतर लोग अपनी-अपनी रियासतों के शासकों के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित थे। इसके अतिरिक्त पहाड़ी प्रदेश का एक वर्ग और भी था जो कि 1966 में हिमाचल प्रदेश में मिलाया गया था। यहां के नागरिकों ने बरतानवी सरकार को हटाने के उद्देश्य से ही राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया था। इस प्रकार पहाड़ी प्रदेशों में एक साथ दो प्रकार के आन्दोलन चले, जैसे कि प्रजामण्डल तथा स्वतन्त्रता आंदोलन। इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि दोनों आंदोलन सर्वथा भिन्न थे। प्रजा मण्डल के कार्यकर्ताओं ने ब्रिटिश इलाके में चल रहे संघर्ष तथा आन्दोलनों में भाग लिया और दूसरी ओर ब्रिटिश इलाके से कई सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के सदस्यों ने रियासती लोगों की सहायता तथा प्रजामण्डल के आन्दोलनों में भाग लिया।

इन सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों में 'राजपूत सभा', 'ब्राह्मण सभा', 'सनातन धर्म' तथा 'आर्य सभा', 'सेवक संघ', 'सुधार सम्मेलन', 'प्रेम सभा' तथा सेवा समितियां प्रमुख थीं। इन संस्थाओं ने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयां, यथा 'रीत', अस्पृश्यता, छोटी आयु में विवाह आदि दूर करने और विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने का कार्य किया। फिर भी इन संस्थाओं की गोष्ठियां कई बार राजनैतिक समस्याओं पर विचारार्थ भी बुलाई जाती थीं।

हिमाचल प्रदेश की भूतपूर्व रियासतों में भूमि-लगान (अर्थात 'बेठ') की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा से 'बेठू' को, जो कि 'बासा' भूमि की काश्त करता था, बहुत हानि उठानी पड़ती थी। शासकवर्ग द्वारा पैसे हथियाने के लिये और भी कई प्रकार के हथकण्डे इस्तेमाल किये जाते थे। शासक परिवार में विवाह, मृत्यु, सिंहासनारोहण तथा अन्य कई प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों को धन बटोरने का साधन समझा जाता था इन अवसरों पर लगाया गया कर हमेशा यकतरफा (Arbitrary) होता तथा इस की वसूली निर्दयतापूर्वक होती थी।

---

1. के० एम० पनिकर, "इण्डियन स्टेट्स एण्ड दी गवर्नमेंट आफ इण्डिया", पृ० 144, राष्ट्रवाद की भावना को समाप्त अथवा कम करने की नीति से ब्रिटिश सरकार ने ऐसे तरीके अपनाये जिस से वह सामन्ती सरदारों को अपने साथ मिला सके। 8 फरवरी, 1921 को 120 सदस्यों का एक "चैम्बर आफ प्रिंसिस (Chamber of Princes) सलाहकार दल" के रूप में संगठित किया गया। शिमला हिल स्टेट्स से छः शासकों को प्रतिनिधित्व मिला। (वी०पी० मैनन "दी स्टोरी आफ इन्टेगरेशन आफ स्टेट्स", कलकत्ता 1956, पृ० 17) इन में मुख्य रूप से चम्बा, मण्डी, सुकेत, बिलासपुर तथा सिरमौर की रियासतें थीं। विस्तृत विवरण के लिये देखो—जी० सी० कौशल, हिमाचल प्रदेश थ्रू दी सैन्च्युरीज़, (पंजाब हिस्ट्री कांफैंस, पटियाला 1970, पृ० 269—272)।

इस के अतिरिक्त 'बेगार'[1] या जबरी मज़दूरी द्वारा कई प्रकार की सेवा लेने की प्रथा भी प्रचलित थी ई0 सं0 1814 में गोरखा सेना के निकलने के पश्चात् पहाड़ी लोगों की प्रार्थना पर ब्रिटिश सरकार (तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी) यहां की छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों की कार्यकुशलता देखने तथा इन पर नियन्त्रण के लिये सर्वोच्च शक्ति बन गई। इस प्रकार नये नये शासकों ने भी 'बेगार' तथा 'कार' या 'अतवार'[2] आदि प्रथाओं का यथासम्भव लाभ उठाया।

'बेगार' प्रथा तथा 'बेगारी' का विवरण देते हुए सत्यानन्द स्टोक्स ने लिखा है—

"उसकी (बेगारी की) अकसर निन्दा होती है, मारपीट के अतिरिक्त उसके हितों की अवहेलना भी होती है। पहाड़ियों की दशा इतनी दयनीय हो जाती है कि उन्हें माल ढोने वाले पशु से अधिक महत्व नहीं दिया जाता। स्वतन्त्र मनुष्य के रूप में उनके अधिकार नहीं के बराबर होते हैं तथा उनसे जबरदस्ती काम लेने के पश्चात् भी उन्हें तुच्छ समझा जाता है।[3]"

जब पहाड़ी क्षेत्र के लोग सदियों से चली आ रही बेगार प्रथा तथा अन्य कई प्रकार के करों को गैर कानूनी समझने लगे तो इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि उनमें राजनैतिक तथा अपने हितों के प्रति जागरूकता आ चुकी है। शीघ्र ही रियासती शासकों के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के पीछे इन गैर कानूनी करों को हटाना अब पर्याप्त कारण समझा जाने लगा।

इन गैर कानूनी करों के अतिरिक्त एक प्रथा और भी थी जिसे 'रसत' अथवा 'रसद' कहा जाता था। इस प्रथा के अनुसार दरबारी कर्मचारियों को गांव में दौरे के समय मुफ्त अनाज आदि इकट्ठा करने का अधिकार था रियासतों के शासकों द्वारा यह सब प्रथाएं अधिकार के रूप में समझी जाती थीं।

इन सब के अतिरिक्त पहाड़ी प्रदेशों में अत्यन्त गरीबी विद्यमान होने के फलस्वरूप प्रदेश के कई लोग पंजाब के मैदानी इलाकों में छोटी छोटी नौकरियां ढूंढने पर विवश हो गये थे। वहां पर आम तौर पर उन्हें कष्टदायी वातावरण में काम करना पड़ता था जिससे वे काफी निराश हो गये तथा कई प्रकार की कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाने वाले लोगों या आंदोलन-कर्ताओं का साथ देने लगे। इन तथा कई अन्य सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से रियासती शासकों के विरुद्ध आन्दोलन तेज होने लगे।

---

1. 'सत्यानन्द' स्टोक्स् ने पहाड़ी प्रदेशों में 'बेगार' अथवा जबरी मज़दूरी के बारे में लिखा है "बेगार" एक ऐसी प्रथा थी जिससे एक रियासत से दूसरी रियासतों में सामान भेजा जाता था। यह ... आज की भांति एक वर्ग (Stage) से दूसरे वर्ग तक नहीं, बल्कि एक गांव से दूसरे तक हुआ करती थीं। "सत्यानन्द स्टोक्स"–'पहाड़ों में जबरी मज़दूरी (नेशनल सैल्फ रिलायेन्स एण्ड अदर एसैज, नई दिल्ली,' 1975, पृ0 45)।

2. 'वार' अथवा 'अतवार' रियासत द्वारा मांगी गई निःशुल्क सेवा को कहते थे। यह सेवा रियासत नागरिकों द्वारा बिना अपवाद दी जाती थी। यह रियासत के विभिन्न 'परगनों' के लोगों द्वारा दरबार में दी गई सेवा होती थी तथा इस प्रथा में कई प्रकार की कुरीतियों की संभावना रहती थी।

3. सत्यानन्द स्टोक्स, वही, पृ0 45

इस प्रकार राजनैतिक तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही प्रजामण्डलों की स्थापना हुई तथा यह संगठन शीघ्र ही सक्रिय हो गये। इन संस्थाओं ने सामाजिक बुराइयों (रीत, अस्पृश्यता, बाल विवाह प्रथा आदि) दूर करने के लिये आन्दोलन चलाये। कई बार इन संस्थाओं ने अपनी सभायें राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी प्रयोग कीं। 'रीत' प्रथा को महिलाओं ने एक हथियार के तौर पर प्रयोग किया। कुछ शिमला हिल स्टेट्स ने 'रीत' प्रथा को समाप्त करने के लिये कानून भी बनाये जिसके पीछे सुधारकों के प्रचार का विशेष हाथ था।

'राजपूत स्थानीय सभा', 'विधवा प्रबंधिनी सभा' तथा 'हिन्दु कान्फ्रेंस' शिमला के सदस्यों ने भी इस विषय को जनता के सम्मुख रखा तथा उच्चतम अधिकारियों से इसे हटाने के लिये मांग की। इस विषय में सब से अधिक कार्य 'हिमालयन विद्या प्रबंधनी सभा' ने किया। सभा ने पहाड़ी क्षेत्र के लोगों के हितों की रक्षा के लिये सेवाएं स्वेच्छा से अर्पित कीं।

इस सभा के संस्थापकों ने कई सभाएं कीं तथा मत प्रचार और इश्तिहार आदि छपवा कर इस कुरीति को दूर करने का प्रयत्न किया।

ई0 सं0 1924 में सभा के सचिव ने शिमला के पहाड़ी राज्यों के अधीक्षक (सुप्रिन्टैण्डेंट) के नाम अपने पत्र में लिखा कि, "कुछ पहाड़ी राज्यों के शासक रीत को अनियन्त्रित रूप में जारी रखने के पक्ष में दिखते हैं, शायद उन्हें स्त्रियों के क्रय धन से पर्याप्त मात्रा में कर के रूप में धन लाभ होता होगा।"[1]

सभा ने एक प्रस्ताव भी पारित किया कि कोई भी स्त्री अपने पति के जीवन काल में विवाह नहीं कर सकती। सरकार को यह अच्छा लगा कि इस प्रथा को दण्डनीय बना दिया जाय क्योंकि सती अथवा बाल विवाह आदि की भांति लोग इसे स्वयं से समाप्त करने के योग्य नहीं थे। सभा ने एक प्रस्ताव पेश किया कि 'बुरदा फ़रोशी' से सम्बन्धित एक कानून को भारतीय 'दण्ड संहिता' में शामिल किया जाये और संहिता के 316वें परिच्छेद में सुधार करके लड़के की विवाह आयु को 14 वर्ष से 16 वर्ष किया जाए। यह प्रथम अगस्त, 1924 में शिमला के डिप्टी कमिश्नर के पत्र में भी सम्बोधित किया गया तथा परामर्श दिया गया कि प्रस्तावित विधान निम्नलिखित होना चाहिये—

(अ) बुरदा फ़रोशी की पर्याप्त शब्दों में परिभाषा वर्णित होनी चाहिये, जिसमें बाप, भाई, एवं लड़की के पति या जो कोई इसे बेचता है, वस्तुतः उद्देश्यों के लिये नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से नियम विरुद्ध भोग व शादी के इरादे से दण्डनीय हो।

(ब) किसी भी व्यक्ति के लिये, जो विवाहित या अविवाहित लड़की को पुनः विवाह या किसी दूसरे व्यक्ति से इसी तरह के उद्देश्य के लिये उपार्जित करता है, दण्ड के योग्य समझा जाये।

(स) घर में नौकरानी खरीद कर उसे खवास अथवा नौकरानी के रूप में दुल्हन के साथ दहेज में दिये जाने की प्रथा का अन्त होना चाहिये।

'सभा' द्वारा उठाई गई आवाज को जिला शिमला के 'हिन्दु सम्मेलन' में समर्थन प्राप्त हुआ। यह सम्मेलन शिमला में 1924 में हुआ। दूसरे प्रस्तावों के साथ निम्नलिखित प्रस्ताव भी सम्मेलन में पारित किये गये—[2]

---

1 देखो वाई0 एस0 परमार, "पोलयेन्ड्री इन दी हिमालयाज़", (देहली, 1975)' पृ0 175

2 वाई0 एस0 परमार, वही, पृ0 176।

प्रस्ताव में कहा गया कि :

'पहाड़ों में 'रीत' की कुप्रथा विद्यमान है । यही पहाड़ी लोगों की निम्न शक्ति, निर्धनता व आपत्तियों तथा जनसंख्या के रिक्तीकरण का मूल कारण है । यह प्रथा शास्त्रों के भी प्रतिकूल है । पहाड़ी राजाओं, डिप्टी कमिश्नर, तथा पंजाब रियासतों के गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि, जिनके इलाके में यह प्रथा विद्यमान है, से प्रार्थना की जाये कि उचित कानून बना कर इस प्रथा के समाप्त किया जाये । इस अनुग्रह के लिये हिन्दु समुदाय अति धन्यवादी होगा ।"

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव सम्मेलन में पारित किया गया जो इस प्रथा को प्रमाणित करता है । यह प्रस्ताव इस प्रकार है :—

"सम्मेलन का यह आशय है कि पहाड़ी राज्यों के शासक, सरदारों के दरबारों के विवाह–सम्बन्धी कानूनों की वास्तविकता को स्वीकार करना चाहिये तथा उन्हें ब्रिटिश-भारतीय न्यायालय द्वारा लागू किया जाना चाहिये । इसके अतिरिक्त उन्हें ब्रिटिश-भारतीय न्यायालय के कानून पहाड़ी राज्यों के शासकों को स्वीकार करने तथा लागू करने चाहियें । ऐसे कानूनों का अस्वीकरण लोगों के लिये एक महान सामाजिक बुराई तथा आपत्ति का एक स्रोत है ।"[1]

पहाड़ी राज्यों में चल रहे सामाजिक सुधार आन्दोलन, तथा संवैधानिक लहरों पर साथ लगते ब्रिटिश क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलनों का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा । पहाड़ी राजाओं के विरुद्ध सुधार आन्दोलन शीघ्र ही "प्रजा-मण्डल" के झण्डे के अधीन आने लगा तथा 1948 ई0 तक उत्तरदायी सरकार की सफलता आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्यों में से एक बन गई ।

फिर भी कठोर दमनकारी तरीकों के फलस्वरूप राजनैतिक गतिविधियां या तो निलम्बित कर दी गई या भूमि-गत हो गई अथवा ब्रिटिश क्षेत्रों को स्थानांतरित हो गई ।

वर्तमान शताब्दी के तीसवें वर्ष के अंत में "हिमालयन रियासती प्रजा-मण्डल" का संगठन हुआ और पहाड़ी राज्यों के असंख्य सामाजिक व राजनैतिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों के निर्देशन के लिये उत्तरदायी बना ।

---

1. इन में केवल शासक (जैसे पटियाला, बघाट, जुब्बल और सिरमौर के ही नहीं थे, जिन्होंने इस प्रथा पर ध्यान दिया परन्तु इन शासकों के अतिरिक्त पहाड़ियों के व्यक्तिगत समुदायों ने भी ऐसा किया और इसके उन्मूलन के लिये प्रबल प्रचार किया । 'रीत' पर कानून वाला प्रथम राज्य पटियाला था । पटियाला रियासत के पहाड़ी क्षेत्रों में यह प्रथा प्रचलित थी । एक विज्ञापनपत्र (नं0 12, तिथि 23 नवम्बर, 1912) रियासत के न्यायिक विभाग द्वारा जारी किया गया । दूसरा बघाट राज्य था जिसके शासन ने "रीत" के उन्मूलन के लिये कठोर कदम व कानून प्रयोग में लाये । अन्त में क्षेत्र के लोगों को अपने पिछड़ेपन का अहसास हुआ कि उनकी प्रथायें हिन्दु संहिता की धर्मपरायणता के अनुकूल नहीं । इसी प्रकार बहुपति रूपी कुप्रथा की स्थिति में भी परिवर्तन आया तथा इसे उस इज्जत से नहीं देखा गया जैसे कि पिछले 20 वर्षों में देखा जाता था ।

प्रजा-मण्डल ने लोगों को उत्तेजित करने के लिये विभिन्न स्थानों पर सार्वजनिक गोष्ठियों का आयोजन किया, पुस्तकों और पत्रिकाओं को छपवाया, पहाड़ी लोगों पर हुए अन्याय व अत्याचारों के विषय में विवरण एकत्रित किये तथा संस्मरण, लेखों व नियुक्तियों द्वारा राजनैतिक प्रतिनिधियों, राजाओं, राणाओं के सम्मुख रखा । साथ ही उन्होंने लोगों को अनुचित करों को न देने तथा "बेगार" न करने के लिये भी उत्तेजित किया।

इस प्रकार चम्बा, मण्डी, सिरमौर, बुशहर, सुन्दरनगर व दूसरी रियासतों में, "प्रजामण्डलों" का संगठन हुआ । जम्मू व काश्मीर से लेकर उत्तर प्रदेश में गढ़वाल तक के प्रजा-मण्डलों ने अपने आप को संगठन में संगठित कर दिया, और "हिमालयन पहाड़ी राज्यों की क्षेत्रीय परिषद्" के नाम तले इसका मुख्य कार्यालय शिमला रखा गया । इसे 'आल इण्डिया स्टेट पीपल्ज़ कान्फ्रेंस' से मान्यता प्राप्त हुई तथा यह उसमें सभासद् हो गई। पंजाब के विभिन्न पहाड़ी राज्यों के 'प्रजा-मण्डल' सहज ही इसकी शाखाएं बन गईं ।

हिमाचल प्रदेश के श्रेष्ठ राज्यों में गैर-जातीय लोगों को जो कृषक, कृषक-मजदूरों, कारीगरों व सेवकों के रूप में कार्य करते हैं जातीय-प्रशासन में निम्न स्थान पर रखा जाता था । अस्पृश्य समझने के अतिरिक्त इन लोगों की परछाई भी जातीय-प्रशासन में विघ्न डालती प्रतीत होती है । कुछ राज्यों में जहां हिन्दु धर्म प्रभावशाली था, हिन्दु राजपूतों की अपेक्षा अस्पृश्यता की भावना उन लोगों में शक्तिशाली थी, जो मुस्लिम प्रभाव के अन्तर्गत आ गये थे ।[1]

पहाड़ी क्षेत्रों में जाति प्रथा ध्यानाकर्षक बुराई अतीत में बहुत से दुर्भाग्यों के लिये उत्तरदायी थी तथा लोगों के बीच एकता तथा विकास में प्रतिरोधक बनी ।[2]

पंजाब तथा अन्य पहाड़ी रियासतों में महिलाओं की सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी । वह सम्पत्ति के अधिकार से वंचित थीं, उन्हें जीवन भर विधवा रहने अथवा पति के साथ चिता में जीवित जल मरने के इलावा बहुपति प्रथा का शिकार बनना पड़ता था ।[3]

---

(1) जय गोपाल, "दी रोल एण्ड स्टेटस आफ़ शैडयूल कास्टस इन दी टेनथ-सैन्चुरी पंजाब" प्रोसीडिंगस आफ़ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, चण्डीगढ़, 1973, पृ0 191.

(2) तारा चन्द "हिस्ट्री आफ़ दी फ्रीडम मूवमैंट इन इण्डिया", (देहली, 1967) II पृ0, 255.

(3) सती प्रथा एक प्राचीन प्रथा रही है जो कि पहाड़ी क्षेत्रों में भी व्यवहार में रही । मण्डी तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में इस प्रथा से सम्बन्धित सती-स्तम्भ आज भी देखे जा सकते हैं । (आर0 के0 कौशल हिमाचल प्रदेश, बम्बई, 1965, पृ0 72-73) 1, फ्रेज़र (Frazer, 1811) बुशैहर में अपनी तरह की निराली सती प्रथा का उल्लेख करता है जिस में बुशैहर के राजा के साथ अन्य 22 लोग भी सती हुए । राजा के साथ इन लोगों में 2 मन्त्री, एक चौकीदार, 3 रानियां तथा 12 खवासी भी शामिल थे । विजने (Vigne, 1839) के यात्रा वृतांत से भी मण्डी में सती प्रथा का वर्णन उपलब्ध होता है । सती, प्रथा के अतिरिक्त पहाड़ी क्षेत्रों में नर बलि जैसी कुप्रथा भी विद्यमान थी । बुशैहर की ऊषा देवी तथा भीमाकाली इस नर बलि के प्रसिद्ध उदाहरण हैं । इन दोनों देवियों का मंदिर सराहन में स्थित था जो कि रामपुर से पहले राजधानी रहा । इस प्रथा का शिकार बनाये जाने वाले को कम से कम तीन दिन तक एक कमरे में रखा जाता । नर बलि के पश्चात् मृत मनुष्य के खून का टीका भीमाकाली की जबान से लगाया जाता तथा उसी खून से ऊषा देवी के चरण धोये जाते । पुजारी इसी खून का टीका श्रद्धालुओं को भी लगाता । (विस्तृत विवरण के लिये देखें, आर0 के0 कौशल, वही, पृ0 74-75) ।

स्त्रियां शिक्षा से भी वंचित थीं तथा उनकी निम्नता एवं निर्भरता जैसी स्थिति थी जिसके अन्तर्गत उनका जीवनस्तर दासों की तुलना में कुछ ऊंचा था। महिलाओं की स्थिति में सुधार करके उन्हें स्वतन्त्र तथा सम्मानपूर्ण जीवन निर्वाह करने के योग्य बनाने हेतु अन्य स्थानों की तरह पहाड़ी रियासतों में भी काफी कुछ करना बाकी था।

यह धारणा भी उचित नहीं कि 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी शिक्षा तथा सामाजिक सुधारों की सशक्त मांग की जा रही थी तथा इस संदर्भ में अंग्रेज़ों द्वारा ही स्वयं पूर्णरूपेण पग उठाये गये। हिमाचल में अनेक ऐसे संगठन बने जिनके द्वारा सामाजिक और शिक्षा सम्बंधी सुधारों की मांग को ले कर आवाज़ उठाई गई।

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है अनेक रियासतों में एक साथ प्रजा-मण्डलों का भी गठन हुआ। धामी के प्रजा मण्डल ने अपनी शक्ति की सार्थकता का अनुमान लगाने का निर्णय किया। मण्डल द्वारा 'बेगार' बंद करने, राजस्व में 50 प्रतिशत की कटौती तथा नागरिक स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित किया गया। मण्डल ने रियासत द्वारा जनता पर लगाए गये प्रतिबंधों को हटाने के साथ-साथ धामी में उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार का गठन करने की प्रार्थना की। इस सम्बन्ध में धामी के राणा को शर्त-पत्र (Ultimatum) भेजा गया जिसमें प्रतिनिधि मण्डल से भेंट तथा उनकी मांगें स्वीकार करने का उल्लेख किया गया।

इस सारी घटना का अंत धामी गोलीकाण्ड के रूप में हुआ जिस में दो व्यक्तियों की मृत्यु के इलावा कई अन्य घायल भी हुए। इस काण्ड के चाहे कुछ भी परिणाम रहे हों, प्रस्तुत काण्ड ने न केवल धामी रियासत के, अपितु अन्य रियासतों की ऐसी असहनीय कार्यवाहियों का भांडा फोड़ दिया। धामी गोलीकाण्ड दुःखांत होते हुए भी सामाजिक और राजनैतिक सुधारों के आंदोलन का प्राण बना तथा सब को एक सूत्र में बांधने में सहाई बना। स्वाधीनता आंदोलन को सामाजिक तथा शैक्षणिक रूप दिया गया। पहाड़ी लोगों का सामाजिक आर्थिक उत्थान लाने में पंडित अमर नाथ शर्मा, कन्हैय्या लाल बुटेल, ठाकुर हज़ारा सिंह, बाबा कांशी राम, गोपाल सिंह तथा चतर सिंह आदि का विशेष योगदान रहा।

सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन में तीव्रता लाने में सिरमौर के कुछ उत्साही नवयुवकों का भी योगदान रहा। इस रियासत में 1935-36 के लगभग प्रजा-मण्डल का गठन हुआ, परन्तु उसे सिरमौर के शासक वर्ग के दमनचक्र से दो चार होना पड़ा। आंदोलनकारियों में चौधरी शेरसिंह, सर्वश्री वैद्य सूरत सिंह, नगेन्द्र सिंह, देवेन्द्र सिंह, राजेन्द्र दत्त, कृष्ण सिंह, हरिचंद तथा हितेन्द्र सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। 13 मार्च, 1948 तक 30 हज़ार जन समूह के सामने विलय के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर होने तक इन व्यक्तियों की गतिविधियां जारी रहीं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हिमाचल के रियासती तथा अन्य लोगों ने सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के लिये अपनी प्रतिक्रिया द्वारा ठोस भूमिका निभाई। प्रजा-मण्डल से आरंभ हो कर इस आंदोलन ने हिमाचल प्रदेश में राष्ट्रीयता की भावना को नई दिशा प्रदान की। इन जन-संगठनों ने अपनी गतिविधियों द्वारा सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के लिये उचित वातावरण तैयार किया। इस सम्बन्ध में शिक्षित वर्ग ने अधिक जागरूकता दिखाई तथा लोगों पर हो रहे कुठाराघातों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। बाद में समाज के एक सशक्त वर्ग के सहयोग के आश्वासन के कारण अंग्रेज़ी सरकार तथा पहाड़ी रियासतों के

राजकुमार भी सामाजिक सुधारों के लिये आगे बढ़े तथा इस संदर्भ में पग उठाये। इस प्रकार इन संगठनों ने सामाजिक वैधता (Social Legislation) हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

—इतिहास विभाग,
हि० प्र०, विश्वविद्यालय,
शिमला-5

"कीर्ति जीवन नदी का झाग है।"—रवीन्द्र

काँगड़ी लोकगीतों में नायिका–भेद

—डा० मनोहर लाल

नागर-साहित्य लोक साहित्य की ही देन है, इस बात को विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है । इस दृष्टि से नागर-साहित्य का शोध के मान-दण्डों के परिवेश में अध्ययन भी किया जा चुका है । लोक-साहित्य को शोध का विषय बना कर भी खूब परखा गया है तथा परखा जा रहा है । ज्ञात हुआ है कि कांगड़ा लोकगीतों पर भी शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं । पता नहीं सुधी शोधार्थियों ने इन गीतों को उक्त शीर्षक की गरिमा के परिवेश में अपनी समीक्षा की चपेट में लिया है या नहीं । मैंने जब-जब कांगड़ा लोकगीतों का तटस्थ मनःस्थिति में अध्ययन किया है मुझे उक्त शीर्षक को उद्घाटित करने की अंतः प्रेरणा मिली है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की, लोकगीतों की नायिकाओं के बारे में जो मान्यता है, उस से भी मुझे बराबर प्रेरणा मिली है । उन्होंने लिखा है, "लोकगीतों की एक एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएं, खंडिताएं और धीराएं न्यौछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं । ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और आप में परिपूर्ण हैं ।[1]"

नागर-साहित्य में नायिका-भेद निरूपण के लिए नाट्यशास्त्र अग्नि-पुराण, दशरूपक, रसमंजरी, साहित्य-दर्पण आदि ग्रंथों को आधार माना गया है । हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में भानुदत्त की रसमंजरी को आधार बना कर नायिका-भेद की चर्चा को पर्याप्त प्रसार भी दिया गया । नायिका भेद के आचार्यों की मान्यता रही है कि जिस रमणी को देखते ही प्रभात के चित्रों में शृंगार-रस का संचार होने लगता है, वह नायिका है । इसलिए नायिका-भेद सर्वांगनिरूपण शृंगार रस के परिप्रेक्ष्य में किया जाना स्वाभाविक है । नायिका-भेद के विस्तृत आयोग को सीमित करते हुए मुख्यतः पांच वर्ग किये गये हैं—1. जाति अनुसार, 2. धर्म अनुसार 3. दशा अनुसार, 4. अवस्था अनुसार तथा 5. गुण-अनुसार[2] । नायिकाओं के जाति अनुसार, पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी । धर्म-अनुसार स्वकीया, परकीया तथा सामान्या, दशानुसार–गर्विता, अन्यसंभोग दुखिता तथा मान वती, अवस्थानुसार—स्वाधीन-पतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोषितपतिका तथा आगतपतिका तथा गुणानुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधम नायिकाओं का वर्णन किया जाता है ।

नायिका भेद के इस सैद्धांतिक वर्गीकरण की कसौटी पर कांगड़ा लोक गीतों को कसना शायद अधिक व्यावहारिक प्रतीत न हो । लोकगीतों की अपनी परिसीमाओं के परिवेश में यह भी आवश्यक नहीं है कि

1. हिमाचल के लोकगीतः सम्पादकः—हरिकृष्ण मिट्टू, मुख पृष्ठ भीतरी भाग।
2. ब्रज भाषा साहित्य का नायिका–भेद—प्रभुदयाल मीतल पृ० प्रवेश, खण्ड vii, viii, ix,

नायिकाभेद के उक्त विस्तृत वर्गीकरण के अंतर्गत कांगड़ा लोक-गीतों को पर्याप्त समृद्ध करार दिया भी जा सके । इन लोकगीतों की सीमाओं के परिवेश में ही, प्रस्तुत लेख में कतिपय नायिकाओं का परिचय दिया जा रहा, है, जागरूक शोधार्थी चाहें तो इसे जनपद अथवा प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त करके विस्तृत चित्रफलक पर समीक्षा का विषय बना सकते हैं ।

धर्मानुसार नायिका-भेद के अन्तर्गत स्वकीया का विशेष महत्व है । स्वकीया विवाहिता होती है । वह मन, वचन तथा कर्म से सदैव अपने पति के अनुकूल रहती है, परपुरुष के प्रति भूल कर भी आकृष्ट नहीं होती । स्वकीया अपने पति के लिए समर्पित होती है । भानुदत्त ने स्वकीया के चरित्र की इस विशेषता को ध्यान में रख कर उसका लक्षण यों दिया है—"तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया"[1] । इतिहास साक्षी है कि अतीत में शैशव में ही विवाह हो जाया करते थे । कांगड़ा के एक लोकगीत में एक ऐसी नायिका का उल्लेख है जिसका पति विदेश से लौटा है और वह उसे बचपन में विवाह हो जाने के कारण पहचानती नहीं है । संदेहाकुल पति भी उसके स्वकीया अथवा परकीया भाव की परीक्षा लेने के लिए रहस्यमय ढंग से वार्तालाप शुरू करता है । उसे अनेक प्रकार के आर्थिक प्रलोभन देकर रिझाने का प्रयास करता है किंतु वह स्वकीया पतिव्रत धर्म के प्रति पूर्णतः निष्ठावान होने के कारण उसके बड़े से बड़े प्रलोभन को भी ठोकर मार देती है । इस गीत में नायिका का गंगा-सा पवित्र तथा उदात्त चरित्र उभर कर सामने आता है और नायक को उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है । गीत इस प्रकार है—

'पिपले दे हेठ खड़ोती की, कल्ली गोरी कींह खड़ी ।
किया तेरे पेईए दूर, किआ घरीं सस्स बुरी ॥'
'बता चलेंदीआ सपाहीआ जी, तिज्जो मेरी किया पेई ।
ना मेरे पेईंए दूर, ना घरीं सस्स बुरी ॥'
'सिरे जो दिगां तिज्जो चौंक, कने दिगां फ़ुल्लां जोड़ी ।
चली पौ सपाहीआं दे नाल, दिगा पिआरीए सुख घड़ी ॥'
'अग्ग तां लग्गै तेरी चौंकें की, नदिआ रूढ़ियो फ़ुल्लां जोड़ी ।'
जद घरी आहंगा लाल गोरी दा, तां हल करनी, सुख घड़ी ॥'
हत्थां जो दिगा चूड़ी, की गले जो सत लड़ी ।
चली पै सपाहीआ दे नाल दिगा पिआरीए सुख घड़ी ॥'
'अग्ग तां लग्गे तेरीआं चूड़ीआं की, नदीआं रूढ़ियो सतलड़ी ।
जद घर आहंगा लाल गोरी दा, तां हल करनी सुख घड़ी ॥'
धन्न-धन्न तेरे मां-बाप गोरीए, जिनां तूं घेत्तड़ी जाई ।
धन्न तिस रसीए दे भाग, जिस दें तू लड़ लाई[2] ॥

नायक के प्रलोभनों का नायिका द्वारा तिरस्कार तथा नायक द्वारा उसके चरित्र ही नहीं, माता-पिता तक की प्रशंसा नायिका के स्वकीया होने की व्यंजक है । नायक-नायिका के इस संवाद से कहीं भी संदेह नहीं रह जाता कि नायिका मन, कर्म तथा वचन से प्रिय के प्रतीवानुकूल नहीं है ।

1. रस मंजरी, पृ० 5
2. कांगड़ाः महेन्द्र सिंह रंधावा, पृ० 186-88

स्वकीया के मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा भेद किये गये हैं। जिस नायिका के शरीर में यौवन का संचार हो रहा है किन्तु जो लज्जाशील हो वह 'मुग्धा' कहलाती है। मुग्धा के अज्ञात यौवन तथा ज्ञात यौवन दो भेद किये गये हैं। अज्ञात यौवन को अपने यौवनागमन का ज्ञान नहीं होता जबकि ज्ञात यौवन को अपने यौवन का ज्ञान होने लगता है। भानुदत्त ने मुग्धा के इन भेदों को 'तत्राकुंरित यौवना मुग्धा सा च—अज्ञात यौवना ज्ञात यौवन च'[1] लिखा है। कांगड़ा लोक गीत में एक ऐसी ज्ञात-यौवना का वर्णन है जो किसी सीमा तथा मध्या की सामाजिका मर्यादा का उल्लधंन करके प्रौढ़ा की मन:स्थिति को जा पहुंची है। लोक गीत यों है—

'खूहे दे सिरे खड़ोतीए, तू पैरां छल मल धो।
लाटर चम्बा खिड़ी गिआ, तू बैठी हार परो॥'
'माए नी सुण मेरीए, तूं बापूऐ जो समझा।
धीआं होइयां बड़ेरिआं, कोई नौकर दे लड़ ला॥'
'धीए नी बड़बोलीए, तूं ऐडे बोल न बोल,
जित्थे कटीआं बारा बरसां इक्क महीना कट्ट होर॥
'सू लैंण दे धीए माझिआं, धीए खिल नी लैंण दे कपाह।
बीज लैंण दे धीए कमांदीयां, जद कर देणा तेरा विआह॥'
'बारां तां बरिह्आं माए इउं रही, जिहीं‌आं खेल्हण बहार।
हुण ना कटूंगी इक्क घड़ी, मेरा जोबन घट-घट जाए॥'[2]

नायिका नवयौवना अर्थात् ज्ञातयौवना ही नहीं, कामातुर भी है। उसे अपनी मन:स्थिति को मां के प्रति स्पष्ट करने में लज्जा का अनुभव नहीं हो पा रहा, इसलिए वह प्रौढ़ा की सीमा का स्पर्श करने लगती है।

नायिका-भेद में एक विदग्धा नायिका है। विदग्धा चतुरतापूर्वक परपुरुषानुराग का संकेत करती है। इसी विशेषता के आधार पर उसके वचन तथा क्रिया-विदग्धा भेद किये गये हैं।[3] कांगड़ा लोकगीत में चित्रित नायिका पर पुरुषानुरागजन्य तो नहीं परन्तु पति अनुराग की परिणत व्यावहारिकता को वचन वैदग्ध्य के रूप में अभिव्यक्ति अवश्य मिली है। गर्भवती नायिका के मुख-मंडल पर पीताभा छा गई है। इस रहस्य को खोलने से झिझक कर नायिका सास के सामने हल्दी पीसने का बहाना लगाती है। प्रसूता अवस्था में दीपक जलने तथा तदुपरांत गोद में बालक के खेलने को भी लज्जावश किसी सीमा तक दुराव की ओट में रखने के बहाने लगा कर अपने वचनवैदग्ध्य का ही परिचय देती है—

1. रसमंजरी, पृ० 8.
2. कांगड़ा: महेन्द्र सिंह रंधावा, पृ० 268-69.
3. 'विदग्धा च द्विविधा वाग्विदग्धा क्रिया विदग्धा च' रसमंजरी, पृष्ठ 31

'सस्स पुच्छदी नूहें गोरीए तेरे मुख पर जरदी आई नी।
कि बबीहा बोले?
'माए जेठ महीने हल्दी कुट्टी, तिस ते जरदी आई नी
कि बबीहा बोले।

सस्स पुच्छदी नूहें गोरीए तेरे अन्दर दीपक बलिआ नी।
कि बबीहा बोले।
माए काले महीने हनेरियां रातां, ताहीं दीपक बलिया नी,
कि बबीहा बोले।

'सस्स पुच्छदी नूहें गोरीए, तेरी गोद बालक खेले,
कि बबीहा बोले।
माए नदी किनारे नाहुणे गईयां, बालक रुढ़दा आइआ नी,
कि बबीहा बोले।
'माए किसे मलाह नू दरद ना आई मैं चुक्क गलें लाइआ नी,
कि बबीहा बोले।[1]

उक्त गीत में यथार्थ को जिस बहाने से छिपाया गया है वह वचनविदग्धा होने का द्योतक है।

अवस्थानुसार नायिका-भेद प्रकरण में प्रवत्स्यत्प्रेयसी तथा प्रोषित-पतिका विशेषत: उल्लेखनीय है। प्रवत्स्यत्प्रेयसी अपने प्रिय के भविष्यत् वियोग की आशंका मात्र से दु:खी हो जाती है। भानुदत्त के मतानुसार जिस नायिका का प्रिय अग्रिम क्षण में देशांतर जायेगा ही, वह प्रवत्स्यत्पतिका है। इस नायिक की चेष्टाएं हैं—काकु या व्यंग्यवचन, जिन से वह बार-बार प्रिय को कोसती है तथा दैन्य भाव से कातर होकर देखती है। वह प्रिय के प्रवास में अनेक विघ्नों की कल्पना करती है।[2]

निम्नलिखित लोकगीत में ऐसी ही नायिका के वियोग का वर्णन है। भावी वियोग ने उसके चेहरे पर पीलापन ला दिया। नायिका अपनी इस कातर दशा के स्पष्टीकरण में प्रियप्रवास का स्पष्ट संकेत कर देती है। इतना ही नहीं, बारहमासा का वर्णन करके भौतिक सुखों के प्रलोभनों से प्रिय को रोके रखने का प्रयास करती हुई कहती है—

'नौकरा मुसाफ़रा जिन्ने पीड़े घोड़े, तुसां चले प्रदेस साडे जिगरे थोड़े।
खड़ी सी खड़ी नूंह सौहरे दे दरबार सौहरे दी नजर नूंह पई गई॥
'किआं नूंहे तेरा मैला मैला भेस, किन्हें गुणे, नूंहें होई पिलड़ी।
पुत्तर तां तेरा सौहरिआ चलिया प्रदेस, इन्हां गुणा मैं होई पिलड़ी।'

1. कांगड़ा: महेन्द्र सिंह रंधावा, पृ० 299-300.
2. यस्या:पतिरग्रिमक्षणे देशांतरं यास्यत्येव सा प्रवतस्यपतिका। अस्याश्चेष्टा: काकु—वचन-कातर प्रेक्षण-गमनविघ्नोपदर्शन-निर्वेद-संताप-सम्मोह निश्श्वास वाष्पादय:, रसमंजरी: पृ० 86

देही नी देही नूंह तूं चतर सुजान, जांदिया नौकरां नू होड़िग्रा ।
चेतर नां जाईं पीग्रा फूल हर भांत, बसाखीए तां दाखां पिग्रारिग्रां पकिग्रां ॥
जेठ ना जाईं पीग्रा गरमी दा जोर, हाड़ तां ग्रंबीग्रां पकीग्रां ।
लैरें ना जाई माहीग्रा बरषां दा जोर, काले तां रातां हनेरीग्रां ॥
सुके ना जाई पीग्रा पितर सराप, कतक दीवाली ग्रसां खेलणी ।
मग्घर ना जाईं पीग्रा लेफ भरा, पोहे तां पाले पिग्रारिग्रा चौगणे ॥
माघे ना जाईं लोहड़ी दा तिउहार, होली ग्रसां खेलणी ।
होए नी होए माए बारां माह, जांदिग्रां नौकरा नूं जाण दे ॥
कोरे तां कुज्जे देही जमा, जांदे दा सगन मना ।[1]
जाइउ ए जाइउ मेरे शिरी महाराज, जांदे दी लगी जावैं नौकरी ॥

ग्रन्यत्र 'जांदिग्रा नौकरां नू होड़ी नी,' गीत में प्रवत्स्यत्पतिका नायिका ग्रपना सारा ग्राक्रोश सास पर व्यक्त करती है । सास भी उसकी कठोर वाणी से चिढ़ कर व्यंग्य में प्रिय के साथ ही चले जाने को कहती है –

नौकर तां चले ससू नौकरिग्रां जो,
जांदिग्रां नौकरा नू होड़ीग्रां नी ।

साड़े तां होड़े नहीं रहिंदे नूएं, नौकर जांदे बांह मरोड़, ।
तिज्जो ता दाम पिग्रारे सस्सू, सांजो पिग्रारी नौकरां री जात ।
मीणे मत लांदी बोलीग्रां मत लांदी नी नूएं,
चलीजा नौकरां दे नाल ।[2]

उक्त लोकगीतों की नायिकाग्रों के ग्रतिरिक्त कांगड़ा लोक गीतों में प्रोषित्पतिका की कातर मनःस्थितियों का ग्रत्यन्त मार्मिक चित्रण है । ग्रश्रु भरे इन लोकगीतों में मानो प्रोषित्पतिका ग्रांसू बनकर बह रही है—निरंतर ! भानुदत्त ने प्रोषित्पतिका के लक्षण में लिखा है –जिसका प्रिय धन कमाने या ग्रन्य किसी कारण से देशांतर चला जाए ग्रौर वह उसके विरहजन्य संताप से व्याकुल हो उसे प्रोषित-भर्तृका कहते हैं । प्रोषित्पतिका की विरहजन्य कातर दशा को व्यक्त करने वाले ग्रनेक गीत हैं । कांगड़ा के लोक गीतों की प्रोषित्पतिका तो थोड़े जल की मछली की तरह तड़पती है । उसकी स्थिति बड़ी ग्रजीव है, न मरते बनता है न जीते । विडम्बना यह कि उसका प्रिय न तो स्वयं ग्राता है ग्रौर न ही कोई पत्र भेजता है—

थोड़े-थोड़े पाणी ग्रो मछली जो तड़फे,
इञ्चां करी तड़फे बो नौकरे दी नार।
ग्रापू बी नी ग्रांउदा ग्रो लिखी बी नी भेजदा,
किञ्चां करी कटणी ग्रो बाल बरेस[3] ।

1. कांगड़ा : महेन्द्र सिंह रंधावा : पृ0 253
2. वही, पृ0 307 .
3. कांगड़ा: महेन्द्र सिंह रंधावा, पृ0 236

भला उन बेचारी वियोगिनियों का भी कोई हाल है जिनके प्रिय सदा प्रवासी रहते हैं । फ़टा हुग्रा कपड़ा भी दर्जी से सिया नहीं जा सकता है । प्रिय तो ग्रलगर्जी निकला । करे भी तो क्या करे, उससे पत्र तक तो लिखा नहीं जाता—

हरीए नी भरीए सबज खजूरे, पतलू जिन्हा दे पीले ग्रो ।
कंदलू जिन्हां दे सदा मुसाफ़र, नारां दे किग्रा हीले ग्रो ॥
राज बिना कोई राजा जो झूरे वैद बिना कोई रोगी ग्रो ।
ग्रो कंद बिना कोई नार जो झूरे, तिन्नूं फ़िरन बजोगी ग्रो ।
टुटिग्रा फुटिया फटा पुराणा, कोई नी सींदा दरजी ग्रो ।
दिलां दा मैंहिरम कोई ना मिलिग्रा, जो मिलिग्रा ग्रलगरजी ग्रो ।
कोठे चढ़ के लिखण जो बैठी, दखणे दी झुलदी वाती ग्रो,
हत्था दे कागद फ़र-फ़र उड़दे, कलम गई गुग्राची ग्रो ।[1]

प्रोषितापतिका की व्यथा 'नामा कटाई घरां जो ग्राई जा' गीत में भी साकार हो उठी है। 'ग्रंब पके घर ग्रा' गीत भी इसी प्रकार की भाव-सम्पदा का धनी है । कुल मिला कर कांगड़ा लोकगीतों में प्रोषित्पतिका की परिकल्पना समृद्ध है ।

एक लोकगीत की नायिका को ग्राखिर प्रिय का पत्र मिल ही जाता है । वह विरहातुर उस खत को किसी से पढ़वाती है । उसका प्रिय के प्रति प्यार उमड़ता है तो खत को ही छाती से लगा लेती है, चूम लेती है—

खत मेरे सज्जणा दा ग्राया हो,
खत मैं पढ़ांदी सिग्रे कञ्चे लांदी
नैण भरी-भरी रौंदी ग्रो ।[2]

ग्रौर इस गीत की कड़ी पर सचमुच ग्राप ग्राचार्य द्विवेदी के मतानुसार नागर-साहित्य की नायिकाग्रों को न्यौछावर करना चाहें तो बेझिझक कर सकते हैं—

1. 'निरखत ग्रंक श्यामा सुंदर के बार-बार लावति लै छाती ।
लोचन-जल कागद मसि मिलि कै है गई स्याम स्याम जूकी पाती ।

—सूरदास

2. कर लै चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाई भुज भेटि ।
लहि प्रिये पाती की लहति, बांचति धरति समेटि ॥

—बिहारी

3. मित्र के पत्र ग्रावत ही उर काम चरित्र की भीर मची है ।
सीस चढ़ावति ग्रांखिन लावति, चुंबन की ग्रति चोप रची है ॥
हाथ कहीं न परै हित की गति कौन सवाद ग्रचौनि मची है ।
छाती सों छबावत ही घनग्रानंद भीजि गई दुति पांति नची है ॥

—घनग्रानंद

1. वही, पृ0 231 .
2. मौखिक वाङमय से ।

कांगड़ा की सीमा से बाहर निकल कर यदि कोई अनुसंधित्सु 'हिमाचल के लोकगीतों में नायिका-भेद' खोज डाले तो क्या बड़ी बात है, आवश्यकता तथ्यान्वेषण, तथ्याख्यान तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण की है। अस्तु !

सहायक ग्रंथ:—

1. रसमंजरी : भानुदत्त : सम्पा: श्री बदरीनाथ शर्मा, प्रकाशक : श्री हरिकृष्ण निबंध-भवनम्, बनारस-1, संस्करण सं0 2008 वि0।
2. कांगड़ा: कला, देश और गीत: महेन्द्र सिंह रंधावा, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण सन् 1970 ई0।
3. हिमाचल के लोकगीत: सम्पा: हरिकृष्ण मिट्टू, प्रकाशक : लोक सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला सं0: सन 1960 ई0।

—हिन्दी विभाग,
श्रीराम कालेज आफ् कामर्स,
दिल्ली-1

"चिन्तन बिना अध्ययन मेहनत खोना है।"
—कन्फ्यूशियस

तिब्बत और बुशैहर की चिर-मैत्री

—पी0 एन0 सेमवाल

हिमाचल प्रदेश में विलय होने वाली शिमला पहाड़ की रियासतों में बुशैहर सब से बड़ा राज्य था। सीमा पर स्थित होने से पुराने समय से ही व्यापारिक और राजनैतिक दृष्टि से इस राज्य का बड़ा महत्व था। इसके सीमावर्ती इलाके को पुराने ज़माने से किन्नौर या कनावर कहते थे। यह भी सम्भव है कि पुराने समय में इसको 'मौन' भी कहते थे—लद्दाख और इसके आस-पास के इलाके में, लाहौल स्पिति में यह नाम प्रचलित था। तिब्बती लोग इस प्रदेश को 'कुनू' कहते थे, पश्चिमी तिब्बत में यही नाम प्रचलित था। आजकल इसका नाम किन्नौर ज़िला है। बुशैहर की आदि राजधानी सांगला के निकट 'मौने' नाम के गांव में थी जहां अब भी एक पुराना किला विद्यमान है; सम्भवत: इसी कारण पड़ोसी इलाकों में इस राज्य को 'मौन' कहते हों।

जांस्कर पर्वतमाला की एक श्रृंखला कनावर और पश्चिमी तिब्बत के बीच एक प्राकृतिक सीमा-रेखा है। इसके सम्बन्ध में बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत के बीच कभी कोई विवाद नहीं रहा। शिप्की का दर्रा पुराना व्यापारिक राज मार्ग रहा है।

जनश्रुति

प्राप्य ऐतिहासिक प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत के अज्ञात अतीत से सम्बन्ध बहुत सौहार्दपूर्ण रहे हैं—राजकीय स्तर पर कभी कोई संघर्ष नहीं रहा जैसा कि प्राय: पड़ौसी राज्यों में रहता रहा। परन्तु अराजकता की स्थिति पुराने समय में सभी जगह रही, पश्चिमी हिमालय के राज्यों में यह स्थिति उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक रही। बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत इसके अपवाद नहीं हो सकते हैं।

पुराने समय से किन्नौर के जनमानस में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति कथा, गीत और किवदन्तियों के रूप में प्रचलित है, विशेषत: पश्चिमी तिब्बत के साथ किन्नौर के सम्बन्धों के बारे में जिन से, यह आभास मिलता है कि किन्नौर और पश्चिमी तिब्बत के सीमावर्ती इलाकों के बीच लूट मार होती थी। कभी तिब्बती लुटेरे कनावर में आते और लूट मार करके भाग जाते। समय मिलने पर कनावरे भी पश्चिमी तिब्बत में जाकर ऐसा ही करते। किवदन्तियों के अनुसार पारस्परिक लूट-मार का यह क्रम सदियों तक चलता रहा। कहा जाता है कि ये लुटेरे जब किन्नौर में आते तो लोग दूर-दूर तक दिखाई देने वाली पहाड़ की चोटियों पर रात के समय आग जलाते ताकि इलाके में दूर दूर तक इनके आने की सूचना पहुंच जाये और लोग आत्म-रक्षा और लुटेरों का मुकाबला करने को तैयार हो जाएं। एक ऐसा ऊंचा स्थान वर्षों पहले मुझे भी दिखाया गया था। वहां एक मकान के भग्नावशेष और ढेर सारे लकड़ी के कोयले

थे । यह स्थान बस्पा और सतलुज घाटी के बीच पहाड़ी की हारङ्गघाटी पर है । लगभग ग्यारह हज़ार फुट की ऊंचाई पर होगा । परम्परा यह बताती है कि इसके नज़दीक के गांव मेबर के लोग इस आग को प्रज्वलित करते थे । यह स्थान इतना ऊंचा है कि यहां से ऊपरी सतलुज उपत्यका के दूर तक के गांव दिखाई देते हैं । सम्भव है कि ऐसी आग और कई स्थानों पर जलाई जाती हो ।

प्रचलित लोकपरम्परा यह भी बताती है कि एक बार किन्नौर का राजा केहरी सिंह (1639-1696) अपने दलबल के साथ शिप्की के पार तिब्बत के प्रदेश में गया हुआ था । वहां उसकी तिब्बत के सेनापति ग्यालदेन छेवंग से मुठभेड़ हुई । इस आकस्मिक मिलन के फलस्वरूप दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि आगे से एक दूसरे के प्रदेश में लूट-मार नहीं करेंगे। एक दूसरे के प्रदेश में बिना कर और बन्धनों के उन्मुक्त व्यापार की सुविधा प्रदान की जाएगी । इस में यह बात भी सम्मिलित थी कि मित्रता की यह सन्धि तब तक कायम रहेगी जब तक कैलाश पर हिम रहेगा, मानसरोवर में पानी रहेगा और जब तक काला कौवा सफ़ेद नहीं होता । ऐसा कहा जाता है कि इस घटना के पश्चात् पारस्परिक लूट मार का पुराना क्रम समाप्त हुआ और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़े ।

भ्रामक धारणा

लोग प्रायः इस सन्धि की चर्चा करते हैं । तिब्बत ने अपने लम्बे संघर्षपूर्ण इतिहास में अपने पड़ौसी देशों के साथ कई सन्धियां कीं इनमें चीन, भारत नेपाल, लद्दाख, भूटान आदि देश उल्लेखनीय हैं, इन देशों से जो सन्धियां हुईं वे सभी उपलब्ध हैं । परन्तु बुशैहर के साथ हुई सन्धि का तिब्बती इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है। एक सन्देहास्पद अभिलेख सन् 1933 में डा0 टूची को नामग्या में मिला था । नामग्या सीमान्त का अन्तिम गांव है । इसका सम्पादन डा0 पीटक ने किया । इस अभिलेख की एक प्रति सन् 1909 में डा0 फ्रैंक को भी नामग्या में मिली थी और एक प्रति उन्होंने किसी व्यक्ति को पूह से स्प्रङ्ग भेज कर वहां के अपुङ्ग से मंगाई थी । उन्होंने अपनी पुस्तक Antiquity of Indian Tibet में संग्रहीत अभिलेखों में इसका नामग्या अभिलेख के नाम से उल्लेख किया है, पर इस का सम्पादन नहीं किया और न ही इसके तथ्यों के बारे में कुछ लिखा । रामपुर के शीशमहल के एक भित्ति चित्र को देखकर और उसकी व्याख्या करते हुये उन्होंने उक्त ग्रन्थ में लिखा—

In one of the Rajah's garden houses he had more Samaist frescoes. One of them interested me in particular, for it evidently is present to a historical scene. When we met His Highness Shamsher Singh a few days later, he told us that the picture was a copy of a picture in the palace at Lhassa. The Picture evidenty represents the treaty between Tibet & Bushahar conduced about 1650 A. D., when Bushahar was supported by the Mugals. The Mugal emperor is surrounded by his soldiers. The elephant approaching from the left is either the retethece of the Mugal or of Bushahar King Kehari Singh. A party of Bushahar people distinguished by their round clock pots are placed in front of the Mugal while the embassy from Tibet is shown in the left who were difeated by the mugals at Basgo near Leh and Tibet had to leave a portion of Guge viz. Sutlej Valley upto Wangtu to the Bushahar state.

डा0 फ्रैंक की उक्त व्याख्या और धारणा सर्वथा भ्रामक और तथ्यहीन है । भित्ति-चित्र का ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य और साधिकारिक होना सन्देहास्पद है । यह शीशमहल जिस में यह भित्तिचित्र था प्राचीन नहीं था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में ही यह बना था और धूमिल जनश्रुति के आधार

पर किसी चित्रकार ने इस को बनाया होगा । न तो मुगलों ने बुशैहर की ओर से लड़ाई लड़ी थी और न ही बुशैहर और तिब्बत के बीच कोई संघर्ष हुआ था, युद्ध तो लद्दाख और तिब्बतियों के मध्य हुआ था । बुशैहर ने तिब्बत का साथ दिया था और मुगलों ने तिब्बत के विरुद्ध लद्दाख की सहायता की थी जैसा कि आगे उपलब्ध नामग्या अभिलेख में वर्णित तथ्यों से स्पष्ट होगा । यह बात निर्विवाद है कि बुशैहर की मूल राजधानी बस्पा घाटी में मौने (कामरू) गांव में थी। वांगतू तक का प्रदेश तथाकथित सन्धि से पूर्व पश्चिमी तिब्बत, गूगे के अधीन होना असत्य और असंगत है। केहरी सिंह बुशैहर राज्य का सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध का शासक था और उससे पहले इस राजवंश की कई पीढ़ियां हो चुकी थीं । कामरू से ही इस राज्य के शासक सतलुज की उपरि उपत्यका पर राज करते थे । सम्भवतः वांगतू उस समय तक इस राज्य की दक्षिणी सीमा हो । केहरीसिंह के समय इस राज्य का वांगतू से आगे विस्तार हुआ हो और सराहन इस की निचले भाग की राजधानी बनी हो । केहरी सिंह बड़ा प्रभावशाली राजा माना जाता है । उसके समय में बुशैहर का पर्याप्त विस्तार हुआ। यह इलाका उसने कुल्लू राज्य से हस्तगत किया हुआ प्रतीत होता है ।कुल्लू के ऐतिहासिक विवरण में ज्यूरी में कुल्लू की सेना के पराजित होने का उल्लेख आता है । यह मुठभेड़ निसन्देह बुशैहर के साथ थी ।

नामग्या अभिलेख

यह अभिलेख 45 पंक्तियों में तिब्बती भाषा में है और कुछ असम्बद्ध और अलौकिक भाव और भाषा म लिखा है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना विवरण के रूप में है और किसी ने यह प्रतिवेदन सूचनार्थ तिब्बत की सरकार को भेजा है, पर भेजने वाले का नाम उल्लिखित नहीं है । इसमें भाषा और शब्द-विन्यास की कई अशुद्धियां है। सम्भवतः ये अशुद्धियां प्रतिलिपि करने वाले ने की हों। हो सकता है कि मूल प्रतिलिपि की नकल न होकर किसी प्रतिलिपि की ही नकल हो और इस प्रकार अशुद्धियों का क्रम बढ़ता गया हो। इसमें वर्णित मुख्य तथ्य इस प्रकार हैं :—

"पुराने ज़माने में पश्चिमी तिब्बत में जिसको तिब्बती लोग नारी कोरसुम का प्रदेश कहते थे और जिसमें पुरङ्ग, गूगे और रोथक के प्रदेश सम्मिलित थे, गूगे का राज्य था । बाद में लद्दाख ने उस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया । तिब्बत के सेनापति को आकाशवाणी से देवाज्ञा मिली कि तुम सेना लेकर 'नारी कोरसुम' याने पश्चिमी तिब्बत जाओ। यह प्रदेश तुम्हारे अधीन हो जायेगा। फलत: ग्यालदेनछेवंग सेना लेकर नारीकोरसुम गया। मानसरोवर क्षेत्र में ग्याल देन छेवंग को केहरी सिंह मिला । वैसे निचले क्षेत्र से 25 राजा और 18 सामन्त लड़ाई में भाग लेने के लिये बुलाये गये थे, पर कोई नहीं आया। ग्यालदेन छेवंग और राजा केहरी सिंह के बीच एक अक्षुण्ण अनुबन्ध हुआ । महामुनि (बुद्ध) की शपथ लेकर यह घोषणा की गई—"जब तक जाम्बूद्वीप के मध्य में स्थित और त्रिकालदर्शी देवताओं के वास स्थान कैलाश पर हिम रहेगा, जब तक मानसरोवर में पानी रहेगा, जब तक काला कौवा सफेद नहीं होगा और जब तक कल्पान्त नहीं होता, तब तक हमारी मैत्री कायम रहेगी ।"

इसके अतिरिक्त व्यापार, लोगों के आने जाने की सुविधा और सुरक्षा एवं बुशैहर से तीन वर्ष में राजदूत का नारी कोरसुम के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में आने और रहने के प्रावधान का भी इस अभिलेख में उल्लेख है । आगे इस अभिलेख में बुशैहर के मंत्री का बुशैहर की सेना को लेकर सेनापति के रूप में ग्यालदेन छेवंग के साथ लद्दाख पर आक्रमण करने का उल्लेख है। इस से पहले उन्होंने सारे नारी कोरसुम पर अधिकार स्थापित किया और बिना अधिक प्रयास के लेह को हस्तगत किया । लद्दाख का

राजा डेलगस नामग्याल अपने मंत्री शाक्ये ग्यालसो के साथ भाग कर श्रीनगर में मुगल राज्यपाल की शरण में गया। जब मुगल सेना लद्दाख पहुंची तो बुशैहर के मंत्री और ल्हासा सरकार के एक उच्च अधिकारी ने गुप्त रूप से पन्द्रह भार सोने चान्दी के मुगलों को रिश्वत के दिये और मुगल सेना लद्दाख छोड़कर चली गई। इसके फलस्वरूप लद्दाख और नारी कोरसुम तिब्बत और बुशैहर के अधीन हो गये और दोनों राज्यों के रिकार्ड (रजिस्टरों) में प्रदेश दर्ज कर दिये गये।

तिब्बत और लद्दाख में संघर्ष—इस अभिलेख के अन्तिम भाग में तिब्बत-लद्दाख के बीच की लड़ाई का उल्लेख है। यह ऐतिहासिक घटना इस प्रकार है से है:-- सन 1644-45 में लद्दाख ने पश्चिमी तिब्बत में नारीकोरसुम पर अधिकार कर लिया। पर ऐसा प्रतीत होता है कि लद्दाख इस प्रदेश की शासन व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं चला पा रहा था। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्वपूर्ण था। ल्हासा गढ़तोक-लेह-यार कन्द व्यापारिक राजमार्ग यहां से गुज़रता था। इसी प्रकार नारी कोरसुम से शिप्की के मार्ग बुशैहर से, नीति-माणा के दर्रे से गढ़वाल के साथ, दार्मा से अल्मोड़ा और तकला कोट के मार्ग से नेपाल के जुमला राज्य से व्यापार होता था। पर यहां अराजकता फ़ैली थी ; लूट-मार करने वाले दलों का बोलबाला था। किन्नौर की लोक प्रचलित परम्परा में इसका आभास मिलता है। इस सन्दर्भ में 1840-41 में पश्चिमी तिब्बत पर ज़ोरावर सिंह के आक्रमण के समय इसी प्रकार व्यापार की क्षति का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने सिक्ख दरबार को विरोध पत्र भेजा था क्योंकि ज़ोरावर के अभियान से उक्त मार्गों से व्यापार को क्षति पहुंच रही थी। ऊन, अबरक और नमक आदि का विपुल व्यापार इस प्रदेश से होता था।

जिस समय की यह घटना है उस समय पंचम् दलाई लामा, नावांग लोपजङ्ग ग्यात्सो (1617—1682) कोसोट मंगोलों के संरक्षण में तिब्बत के शासन को संगठित कर रहा था। शासन दलाई लामा के हाथ में था, परन्तु प्रभुसत्ता मंगोल शासक गुसेरी खान की शक्ति पर आश्रित थी। गुसेरी खान ने 1642 ई० में पंचम् दलाई लामा को तिब्बत का शासक नियुक्त किया। नारी कोरसुम पर आक्रमण का एक और कारण भी था : नारी कोरसुम के निवासी प्रधानतः दलाई लामा की धर्म-परम्परा ग्यालुक्पा सम्प्रदाय के अनुयायी थे ; परन्तु लद्दाख का राजवंश और जनता बरुक्पा धर्म-परम्परा को मानने वाले थे। इन दो सम्प्रदायों में आपस में वैमनस्य था। बरुकपा लद्दाख के राज्याश्रय में नारी कोरसुम के ग्यालुक्पा लोगों को तंग कर रहे थे। अतः दलाई लामा ग्यालुक्पा का धर्माधिष्ठाता के नाते अपने सम्प्रदाय के लोगों की रक्षा करना कर्तव्य बन जाता था। अतः प्रो० पीटक के अनुसार सन् 1681 में ग्यालदेन छेवंग के सेनापतित्व में पश्चिमी तिब्बत और लद्दाख पर आक्रमण हुआ। ग्यालदेन छेवंग सैनिक नहीं था। यह ताशीलम्पो विहार में एक प्रसिद्ध भिक्षु और आचार्य था। यह बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित था। इसकी विद्वत्ता और शास्त्रार्थ करने की योग्यता की उस विशाल विहार में धाक जमी थी। भिक्षु-पद में ही दीक्षित होने से युद्ध जैसे हिंसक कार्य में इसकी कदापि रुचि न थी, परन्तु दलाई लामा के आग्रह पर, एवं धर्म-रक्षा के नाम पर उसको यह कार्य-भार लेना पड़ा। राजवंशीय होने से भी ग्यादलेन छेवङ्ग को उपयुक्त पात्र समझा गया। वह तिब्बत के तत्कालीन शासक डलस खान का सगा चचेरा भाई था और उत्तर-पूर्वी प्रदेश कोकोनोर में इसकी विस्तृत जागीर थी। इस अभियान में ग्यालदेव छेवङ्ग के साथ चुने हुए मंगोल सैनिक थे। मानसरोवर प्रदेश में उसकी केहरी सिंह से मुलाकात हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यालदेन छेवङ्ग ने राजा केहरी सिंह से इस अभियान में सहायता मांगी। नामग्या अभिलेख में वर्णित मित्रता की सन्धि सम्पन्न हुई। यह सब कार्य मौखिक था। महामुनि (बुद्ध) की शपथ लेकर एक पुण्यमय स्थान पर यह समझौता हुआ। ऐसी स्थिति में इसके परिपालन और इस के चिरस्थायी होने में कोई सन्देह ही नहीं था। एक रोचक बात यह है कि अच्छे सम्बन्धों को अनुबन्ध के द्वारा पक्का करने की बहुत प्राचीन प्रथा यह थी कि परिचित प्राकृतिक

चिरस्थायी स्थूल चिन्हों का आश्रय लिया जाता था। कैलाश में हिम और मानसरोवर में पानी का अस्तित्व चिरस्थायी और शाश्वत है। अनुबन्ध का स्थायित्व इन प्राकृति स्थूल रूपों की नित्यता से व्यक्त किया गया है। सदियों पहले लद्दाख के राजा ला-छेण-उत्तपाल (1125-50) के समय कुल्लू (ल्यूंगती) के साथ लद्दाख का एक समझौता हुआ था। उसमें भी, "जब तक कैलाश में हिम और मानसरोवर में पानी रहेगा, तब तक यह सन्धि अक्षुण्ण रहेगी" ऐसी भाषा का प्रयोग हुआ था। स्वयं मानसरोवर की पुण्यमयी भूमि में सम्पन्न हुई सन्धि में ऐसी भाषा का प्रयोग स्वाभाविक था।

राजा केहरी सिंह स्वयं इस अभियान में नहीं गया। कनावर वापिस आकर उसने अपने मन्त्री के साथ सेना भेजी। मंत्री के नाम का उल्लेख नहीं है। लेह पर अधिकार करने के बाद तिब्बती सेनापति ने लद्दाखी सेना का पीछा किया और दक्षिणी लद्दाख में बास्गो के किले में इनको घेरा और छः महीने तक यह घेरा चलता रहा। इस अवधि में लद्दाख ने काश्मीर के मुगल गवर्नर इब्राहीम खां से सैन्य सहायता मांगी। यह औरंगजेब का शासन काल था और मुग़ल सम्राट् उस समय दक्षिण के अभियान में व्यस्त औरंगाबाद में था। वहां से औरंगजेब से सहायता देने के लिए स्वीकृति ली गई। सहायता देना दो प्रमुख शर्तों पर धर्मान्ध औरंगज़ेब ने स्वीकार किया ; (i) राजा सपरिवार इस्लाम को स्वीकार करे और (ii) मुगल शासन के अधीनता के प्रतीक रूप में काश्मीर के गवर्नर को कर, नज़राना दिया जाये। संकट-ग्रस्त राजा ने दोनों शर्तों को स्वीकार किया। तत्पश्चात् मुगल सना ने लद्दाख की ओर प्रयाण किया। ग्यालदेन छेवङ्ग की तिब्बत-सेना और बुशैहरी सैनिकों को प्रशिक्षित और युद्ध-कला में निपुण मुगल सेना का मुकाबला करना सम्भव न था। साधारण मुठभेड़ में ही तिब्बती परास्त हो गये। पर नामग्या अभिलेख के अनुसार बुशैहर के बजीर और एक तिब्बती अधिकारी ने गुप्त रूप से पन्द्रह भार सोने-चान्दी के मुगलों को दिये और वे चुपचाप वापिस लौट गये। इस बात पर अविश्वाश करने का कोई आधार नहीं है। धन-लोलुपता उस युग के युद्धों का प्रमुख लक्ष्य होता था। यह धन विजेता के राजकोष में ही नहीं जाता था वरन् इस का काफी भाग सैनिकों मे बांटा जाता था। ग्यालदेन छेवङ्ग को लेह के राज-प्रासाद और कोष में अतुल धन-राशि मिली थी। विजेता को धन देकर सन्तुष्ट करना कोई कठिन कार्य नहीं था। मुगल सेना इब्राहीम खां के पुत्र फ़िदाई खां के सेनापतित्व में आई थी। पन्द्रह भार सोना चांदी पाकर वह पूर्ण विजय के उल्लास में वापिस चला गया। तिब्बतियों ने अपनी इच्छा और सुविधा के अनुरूप सन्धि की शर्तें लद्दाख पर लादीं। नारी कोरसुम का प्रदेश तिब्बत ने लिया। प्रो० पीटक के अनुसार स्पिति की निचली उपत्यका जिसको हांगरंग की घाटी भी कहते हैं, बुशैहर को दे दी गई। तब तक स्पिति और लाहौल लद्दाख के आधीन थे परन्तु इस पराजय के बाद कुल्लू के राजा विधि सिंह और उसके बाद मान सिंह ने सारे लाहौल-स्पिति पर अधिकार कर लिया। Hutchison (एच ई सन) ने History of Panjab Hill States में ग्यालदेन छेवङ्ग की एक फौजी टुकड़ी का लाहौल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इसके अनुसार इस टुकड़ी ने केलांग के किले पर अधिकार किया। जब यह टुकड़ी गोंडला के पास से गुजर रही थी तो ऊपर से एक विशाल हिमानी आई और उस में बहुत से सिपाही दब कर मर गये। शेष वहां से वापिस चले गये। इस स्थान पर बाद तक उन की हड्डियों का ढेर दिखाई देता था। ग्यालदेन छेवङ्ग एक विशाल सेना लेकर तिब्बत से चला था। बास्गो किले की घेराबन्दी शीतकाल में चलती रही। यह सम्भव है कि फौज की एक टुकड़ी ने शीतकाल से पहले बारालाचा दर्रे को पार किया हो और शीतकाल में लाहौल में ही वह लूट-पाट में व्यस्त हो गये हों। अतः गोण्डला के निकट बर्फ में दबने की घटना सम्भव है। पर लद्दाख की पराजय के बाद कुल्लू के राजाओं ने अवसर का लाभ उठा कर सारे लाहौल और स्पिति पर अपना अधिकार कर लिया और अंग्रेजी राज्य में विलय होने तक लगभग यही स्थिति रही।

रोचक बात यह है कि परिस्थितियों का ऐसा संयोग हुआ कि बुशैहर को तिब्बतियों के साथ मिलकर मुग़लों से लड़ना पड़ा। सम्भवतः उस समय तक बुशैहर की राजधानी मोने (कामरू) में थी और इसी दूरस्थ

प्रदेश में यह राज्य सीमित हो। इस कारण मुगल सत्ता का आतंक यहां तक न पहुंचा हो। वैसे औरंगजेब से एक सदी पहले अकबर के समय से कांगड़ा और जम्मू (डूगर) समुदाय के बाइस राज्यों के राजकुमार बन्धक के रूप में मुगल दरबार में रहते थे। पर ये राज्य मुख्यतः सिन्ध और व्यास नदी के बीच के राज्य थे। सुदूर सतलुज की उपत्यका का यह सीमावर्ती राज्य मुगलों के आतंक से अछूता रहा हो। औरंगजेब के बाद तो यह आतंक समाप्त हो गया और उपरोक्त सभी पहाड़ी राज्य धीरे धीरे स्वतंत्र हो गये। स्वयं लद्दाख के राजवंश ने इस्लाम धर्म त्याग कर पुनः बौद्धधर्म में दीक्षा ले ली और लगभग रणजीत सिंह के उदय तक एक स्वतंत्र राज्य के रूप में रहा।

बुशैहर और पश्चिमी तिब्बत : संक्षेप में नामग्या के अभिलेख से मुख्यतः तिब्बत-लद्दाख की लड़ाई, पश्चिमी तिब्बत की राजनैतिक स्थिति और तिब्बत बुशैहर के आपसी सम्बन्धों को समझने में सहायता मिलती है। यह अभिलेख एक प्रकार से किसी द्वारा लिखी चिट्ठी या प्रतिवेदन की नकल प्रतीत होती है। कालान्तर में इस में कई प्रकार की अशुद्धियां आ गई हैं, पर ये भाषा सम्बन्धी हैं, मूल तथ्य अपने मूल रूप में ही सुरक्षित प्रतीत होते हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद ग्यालदेन छेवङ्ग इस प्रदेश को विधिवत तिब्बत सरकार को सौंपने ल्हासा गया और उसने अपने निजी सचिव लोबजङ्ग पद्मा को इस विजित प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया। सम्भव है कि यह लिखित सूचना उसने ल्हासा सरकार को भेजी हो जैसा कि इसके स्वरूप से स्पष्ट होता है। इसका आरम्भ प्रथम संस्कृत वाक्य से इस प्रकार है:-

"ओं स्वति। श्रेष्ट धर्मपालक परम भट्टारक धर्मानुशासित ल्हासा सरकार के कमल चरणों में निवेदन है"।

इस प्रारम्भिक औपचारिक शिष्टाचार के बाद, जो भारतीय परम्परा का ही रूप है—'ओं स्वति' वाक्य तो संस्कृत में ही तिब्बती लिपि में हैं, ऊपर जिन तथ्यों की चर्चा की गई है उनका उल्लेख है। नारी कोरसुम में लेह सरकार की अव्यवस्था से लेकर ग्यालदेन छेवङ्ग का युद्ध के लिये तिब्बत से प्रयाण, मानसरोवर क्षेत्र में केहरी सिंह से मिलन, चिरमैत्री की घोषणा, लद्दाख पर अभियान, मुगलों का आना, उनको गुप्त रूप से घूस देना और नारी कोरसुम ल्हासा एवं बुशैहर के रिकार्ड में दर्ज होना, इसके मुख्य वर्णित तथ्य हैं। इस को सन्धि की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इस अभिलेख के अन्त में बुशैहर (कुनू) और तिब्बत के पुराने सम्बन्धों का बड़े सौहार्द और भावपूर्ण ढंग से उल्लेख किया है। बुशैहर के राजवंश की सत्यनिष्ठा के लिये भूरी-भूरी प्रशंसा की गई है। अन्तिम पैराग्राफ़ इस प्रकार है :-

"बहुत प्राचीन काल से अब तक बुशैहर की 13 राजवंशीय पीढ़ियां हो गई हैं। बुशैहर का धर्मात्मा राजा सदा ही विश्वास के योग्य रहा और अपने वचन से कभी भी बाल भर इधर-उधर नहीं हुआ। यह बहुत पुरानी पुण्यमयी परम्परा है और आज भी जीवित है। हमारी कामना है कि यह इसी प्रकार जीवित रहे।"

ग्यालदेन छेवङ्ग और केहरी सिंह ने मानसरोवर प्रदेश में सौहार्द-पूर्ण पुराने सम्बन्धों की मौखिक घोषणा की और पुराने ढंग से उनको मनाने का संकल्प दुहराया!

मित्रता के आचार-व्यवहार को निभाने के लिये हर तीसरे वर्ष बहुत पुराने समय से बुशैहर और गढ़तोक के गुरुपुण्ड (गवर्नर) के बीच बहुत मूल्यवान उपहारों का आदान-प्रदान होता था। साम्यवादी चीन का तिब्बत पर अधिकार होने पर यह पुरातन परम्परा समाप्त हुई।

स्रोत ग्रंथ:-

1. History of Punjab Hill States, J. Hutchison and J. Ph. Vogel.
2. Antiquities of India and Tibet, A. H. Francke
3. Tibet and its History, H. E. Richardson
4. The Tibitian-Ladakhi-Mughal War 1681-83, Indian Historical Journal Vol. XX III-3 Prof. L. Petech
5. Himalayan Battle Ground, Margeret Fisher.

—सेमवाल सदन,
इंजन घर,
संजोली, शिमला-6

गद्दियार क्षेत्र का इतिहास

—डा0 मोहन लाल गुप्ता

हिमालय पर्वतमालाएं सदैव से ही आश्चर्य की वस्तु रही हैं। इनमें आज भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जिनका इतिहास एवं भूगोल अज्ञात है या उसका ज्ञान आंशिक है।

गद्दियार (1326 वर्ग कि0 मी0) अर्द्ध भ्रमणशील गद्दी जन-जाति (अक्षांश $32^\circ 20' 52.53''$ उ0 से $32^\circ 40' 7.5''$ उ0 और $76^\circ 21' 2.5''$ पू0 से $76^\circ 51' 52.5'$ पू0) की निवास-स्थली है। 21825 जनसंख्या वाला यह प्रदेश पांगी व धौलाधार पर्वतमाला (1828–6086 मी0) के मध्य, रावी और उसकी सहायक बुढ़ल, तुन्दा, कुगती व होली आदि नदियों के दोआब में बसा है।

गद्दी एक जातीय (Generic) नाम है, जिसके अन्तर्गत, राजपूत, खत्री, ठाकुर तथा राठी आदि जातियां सम्मिलित हैं।[1] गद्दी मुख्यतः चम्बा जिले की उप-तहसील भरमौर तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रों में निवास करते हैं। लोहार, बढ़ई, हाली, कोली तथा सिपी आदि निम्न आर्थिक स्तर वाली अनेक अन्य जातियां भी इन्हीं के साथ इस क्षेत्र में निवास करती हैं। प्राचीन काल में भरमौर उप-तहसील से बाहर के निवासी गद्दियार प्रदेश की इन निम्न आर्थिक स्तर वाली जातियों को भी गद्दी कहते थे, यद्यपि इस प्रदेश के गद्दी लोग इनकी गणना अपने में नहीं करते थे। ये निम्न आर्थिक स्तर वाली जातियां अपने को आर्य कहती हैं। आज अस्पृश्यता को मिटा कर, सामाजिक उन्नति एवं सुधारों के इस उषाकाल में, राज्य के अधिकारियों द्वारा इन्हें भी गद्दियों की श्रेणी में रखा जाता है।

गद्दियों के इतिहास से हमारा तात्पर्य गद्दियार प्रदेश (भरमौर उप-तहसील) में निवास करने वाली जातियों के इतिहास से है। विश्व के अन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली जन-जातियों और उनकी निवास-स्थली के इतिहास की भांति गद्दियों और गद्दियार प्रदेश का इतिहास निम्नलिखित चार आधारभूत समस्याओं के समाधान का मुखापेक्षी है:—

(1) क्या गद्दियार प्रदेश के वर्तमान निवासी भारत के आदिमानव के रूप में इसी क्षेत्र में जन्मे और उस समय से आज तक यहां रह रहे हैं?

(2) क्या कभी यहां के वर्तमान निवासियों के पूर्वज इस क्षेत्र में कहीं बाहर से आकर बसे और तब से अब तक यहां रह रहे हैं, जिनकी अनेक टुकड़ियां समय-समय पर समीपवर्ती अन्य क्षेत्रों को स्थानान्तरित होती रहीं?

(3) क्या कभी आक्रमणकारियों की विभिन्न टुकड़ियां विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से इस क्षेत्र में आकर बसती रहीं और उन सभी के मिश्रण से गद्दी नामक जन-जाति का जन्म हुआ, जो अपने वर्णसंकर रूप में आज भी आधुनिक मानव की सभ्यता से दूर इन दुर्गम पर्वतों में अपने ढंग से निवास कर रही है?

(4) यहां के निवासियों को 'गद्दी' नाम से ही क्यों सम्बोधित किया गया?

1. Hutchison and Vogel, J. Ph., History of Punjab Hill States, Vol. I., Lahore, 1933.

यहां के अतीत की खोज के लिए अलिखित तथा लिखित ऐतिहासिक स्रोतों, भग्नावशेषों तथा समय-समय पर खुदाई में प्राप्त विभिन्न सामग्रियों, जन-श्रुतियों, लोकनृत्यों एवं लोकगीतों आदि का अवलोकन आवश्यक है।

सुविधा की दृष्टि से गद्दियार प्रदेश एवं गद्दियों के इतिहास को निम्नलिखित तीन सोपानों में विभक्त किया जा सकता है:—

(क) **प्राचीन इतिहास**:—इस सोपान में हिमालय की उत्पत्ति के काल से लेकर गद्दियार प्रदेश के 700 ई0 पू0 तक के इतिहास को स्थान दिया गया है। इस सोपान में प्राग्वैदिक काल (3000 ई0 पू0 तक), वैदिक काल (3000 ई0 पू0 से 1400 ई0 पू0 तक) पौराणिक काल (1400 ई0 पू0 से 800 ई0 पू0 तक), पौराणिकोत्तर या प्राचीन अनेक सशक्त राज्यों का काल (800 ई0 पू0 से 700 ई0) तक को वर्णन हेतु एक इकाई के रूप में इसलिए रखा गया है क्योंकि इन कालों से सम्बन्धित गद्दियार प्रदेश के इतिहास का ज्ञान परिमित है।

(ख) **राजपूत काल**:—राजपूत काल (700 ई0 से 1200 ई0 तक) गद्दियार प्रदेश का इस काल का इतिहास स्पष्ट, विस्तृत एवं लिखित रूप में उपलब्ध है।

(ग) **मुस्लिम एवं आधुनिक काल**:—यह काल 1200 ई0 से वर्तमान तक है।

(क) गद्दियार का प्राचीन इतिहास

मानव और हिमालय के इतिहास में गहन तादात्म्य देखने को मिलता है। सर्वप्रथम श्री बेरल महोदय ने अपना यह सुझाव प्रस्तुत किया कि मानव तथा हिमालय की उत्पत्ति साथ-साथ उस समय हुई जब मायोसीन युग के दस लाख वर्ष व्यतीत हो चुके थे।[1] उनके इस मत की प्रामाणिकता शिवालिक की पहाड़ियों व घाटियों की खुदाई में प्राप्त होने वाले वृक्ष, निवासी व मानव के अस्थि-पंजरों से हो जाती है, जिन्हें प्रथम अन्तर्हिमानी युग का माना गया है[2]। इस प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि प्रथम अन्तर्हिमानी युग से ही मानव पंजाब हिमालय के अन्य भागों की भांति इस क्षेत्र में भी आगामी दो हिमानी युगों तथा तीन अन्तर्हिमानी युगों में निवास करता रहा और ये प्रदेश प्रथम अन्तर्हिमानी युग के पश्चात् कभी भी पूर्णतः मानव रहित नहीं रहे।

नालागढ़ तथा सोलन में हुई खुदायी में पत्थर से निर्मित कृषि तथा युद्ध में काम आने वाले अनेक उपकरणों एवं शस्त्रों की प्राप्ति हुई है।[3] श्री बी0 बी0 लाल को भी कांगड़ा तथा व्यास नदी-घाटी में गुलेर तथा दिहार आदि स्थानों की खुदाई में पत्थरों से निर्मित अनेक कुल्हाड़ियां प्राप्त हुई हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि उनका प्रयोग लकड़ी को काटने में किया जाता था। डा0 जी0 सी0 महापात्र ने कांगड़ा जिले के अनेक स्थानों की

1. मुकर्जी (डा0) राधा कुमुद "हिन्दू सभ्यता", दिल्ली, 1958, पृ0 9।
2. Majumdar, R. C., History and culture of the Indian People, Vol. I, Vedic age, London 1952 pp. 123-124, Powell price, J. C., History of India, London, 1955, p. 6.
3. Sankalia, H. D., Pre History and Proto-History in India and Pakistan, Bombay, 1962 pp. 16-20.

खुदायी में विभिन्न पाषाण-युगों की सम्यता के लगभग 500 ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं,[1] जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्यास नदी-घाटी और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में तीनों पाषाण युगों की सम्यता का विकास हुआ और प्राय से 60 लाख वर्ष पूर्व की सभ्यता और उसका मानव, इन घाटियों एवं पहाड़ियों में आज से लगभग 4000 वर्ष पूर्व तक निवास करते रहे। विभिन्न पाषाण-युगों की सम्यता को पार करके मनुष्य ताम्रयुग की सम्यता में प्रविष्ट हुआ।

लगभग 5000 वर्ष पूर्व पुराने ताम्र-युग में इस क्षेत्र की मानव-सम्यता ने विशेष उन्नति की और वह सम्यता सिन्धु नदी से लेकर हिमालय की तलहटी तक फैल गई।[2] रूपर, मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदायी में प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि यह सम्यता हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा शेष सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैली हुई थी।

वनस्पति विज्ञान-विदों ने भी विभिन्न फसलों के विकास का अध्ययन कर यह निश्चय किया है कि गेहूं की कृषि सबसे पहले हिन्दुकुश की घाटियों, हिमालय पर्वत-क्षेत्र तथा पंजाब के मैदानों में की गई और तत्पश्चात् यह सम्यता पश्चिम की ओर फैली, जिसके मुख्य कार्य कृषि और पशु पालन थे[3]।

स्यालकोट, रूपर तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त मानव अस्थिपंजरों से यह स्पष्ट हो गया है कि उस काल में इन क्षेत्रों में मंगोलोइड, मेडीट्रनियन तथा अल्पाईन जातियों के वंशज निवास करते थे[4], जिन्होंने द्राविड़, पुरेहुइस, सुमेरियन, पानी, असुर, व्रात्य, दास, नाथ और किरात सम्यताओं को जन्म दिया।

3000 से 2500 ई० पू० पुरानी सिन्धु घाटी तथा हड़प्पा की सम्यता और उस सम्यता का निर्माण करने वाली जन-जातियां पूर्व की ओर सरस्वती नदी तक और उत्तर की ओर सतलुज व व्यास नदियों की आन्तरिक घाटियों तक फैली हुई थीं। इन सम्यताओं के अनेक केन्द्रों की खुदाई में देवदार के अनेक शहतीर प्राप्त हुए हैं। देवदार के वृक्ष हिमालय के केवल ऊंचे पर्वतीय भागों में ही उगते हैं। अतः यह निश्चय हो जाता है कि इन सभ्यताओं के केन्द्रों का सम्बन्ध पर्वतीय क्षेत्रों से भी था[5]। उस समय एन क्षेत्रों में कोल-किरात, किन्नर नाग तथा खश जातियां निवास करती थीं।[6] यद्यपि यह विवादास्पद है कि उक्त जातियों में से पश्चिमी हिमालय के इस भाग में निवास करने वाली आदि जाति कौन सी थी, तथापि अधिकांश विद्वान कोल किरात जातियों को ही 3000 ई० पू० के लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी हिमालय के अनेक स्थानों में फैली हुई मानते हैं। पश्चिमी हिमालय के अन्य क्षेत्रों की भांति उस समय गद्दियार प्रदेश में भी कोल जाति निवास करती थी[7]। गद्दियार प्रदेश में निवास करने वाली कोल, हाली, डोम आदि जन-जातियां इसी (कोल) जाति के अवशेषमात्र हैं।

1. some Important stone age discoveries in Kangra District. The Tribune, Ambala, 21st November, 1963, p.3, Col.3.
2. मुकर्जी (डा०) राधा कुमुद "प्राचीन भारत" दिल्ली, 1962, पृ० 8
3. मुकर्जी (डा०) राधाकुमुद, "प्राचीन भारत" दिल्ली, 1962, पृ० 8
4. Majumdar, R. C., History and Culture of the Indian People, Vol. I, Vedic age, London, 1952, P. 196.
5. विद्यालंकार, सत्यदेव : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, 1960 पृ० 76
6. Singh, Goverdhan, the Origin of Man and the Himalayas, Himalayan Kalpdrum vol. I, April—June, solan, 1964, pp. 22—23.
7. Punjab State Gazetteer Vol. XXIIA, Chamba State, Lahore 1910, p. 58.

कुछ अन्य निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर इस क्षेत्र में सिन्धु घाटी सम्यता काल में कोल जाति की उपस्थिति प्रमाणित होती है।

(1) कोल जाति मुण्डा भाषा बोलती थी और मुण्डा बोली का प्रभाव नेपाल से चम्बा तक पहाड़ी बोली पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है[1]।

(2) हिन्दू धर्म और संस्कृति में प्रचलित नाग, गणेश तथा अन्य पशु देवताओं की पूजा न तो आर्य जाति से और न ही द्रविड़ जाति से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है बल्कि यह तो कोल जाति की ही देन है।[2] इन देवताओं की उपासना गद्दियार के गद्दी लोगों में प्रचलित है। अतः निश्चय ही इनका घनिष्ठ जातीय सम्बन्ध किसी न किसी रूप में कोल जाति से रहा है या आक्रान्ताओं में यह कोल जाति इस प्रकार घुल-मिल गई कि आक्रान्ता और यहां के आदि निवासी मिलजुल कर एक हो गए।

सिन्धु घाटी की सम्यता के काल में पश्चिमी हिमालय में निवास करने वाली अन्य जन-जातियां किन्नर तथा किरात थीं[3]। ऋषि वशिष्ठ ने ऋग्वेद में इन्हें 'शिश्नदेवाः' कह कर सम्बोधित किया है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में इन्हें कन्दराओं में निवास करने वाली जनजाति कहा गया है[4]।

महाभारत काल में किरात जाति को हिमालय पर्वत के क्षेत्र में निवास करने वाली ऐसी जाति बताया गया है, जो फलों और वृक्षों की जड़ों का आहार करती थी और चमड़े के वस्त्र पहनती थी[5]। महाभारत के वन पर्व में भी इनका वर्णन आया है।[6] धर्म से विचलित होने के कारण मनुस्मृति में इन्हें शूद्रों की संज्ञा दी गई है।[7] महाकवि कलिदास ने भी किरातों का वर्णन किया है और इन्हें हिमालय के निवासी माना है।[8] कालिदास द्वारा किरातों के साथ-साथ किन्नरों का वर्णन भी किया गया है अतः इन दोनों के मध्य जातीय सम्बन्ध अवश्य था, परन्तु राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार इनके मध्य जातीय सम्बन्ध विवाद का विषय है।

राहुल सांकृत्यान के मतानुसार सन् 400 ई० तक चिनाब तथा गंगा की घाटी के मध्य स्थित प्रदेश में किन्नर जाति के व्यक्ति निवास करते थे और आज चम्बा लाहौल में अर्थात् गद्दियार प्रदेश के पश्चिमी भाग में निवास करने वाले व्यक्ति उन्हीं की सन्तान हैं। इन कोल, किरात और किन्नर जातियों के अवशेष सम्पूर्ण पश्चिमी हिमालय की बन्द निर्जन घाटियों में मिलते हैं[9]। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अन्तिम चरण तक निवास करने वाली जातियां किन्नर, कोल और किरात गद्दियार प्रदेश में रही हैं।

1. Banerji, R.D. 'Pre-historic, Ancient and Hindu India,' Bombay, 1935, p, 8.
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र "प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास" इलाहाबाद, 1958, पृ० 63
3. सांकृत्यायन राहुल "ऋग्वैदिक आर्य," इलाहाबाद 1857, पृ० 24.
4. Mukerji (Dr.) Radha Kamal, "History of Indian civilization," Vol. I, Bombay, 1958, pp. 1-29.
5. ये पराधे च हिमवतः सूर्योदयगिरी नृपा : फूलमूलाशनाश्चे किराताश्चर्म वासाम्।
6. किरातंतंगणकोण पुलिन्द-शत-संकुलम्। हिमवत्य वरे छुष्टं पिकाश्चय सभा कुलम् सुवाहुश्चा पिता दृष्टवा पूज्या प्रति गृहणात : विणायान्ते कुलन्दनिमोश्वर-प्रोतिपुर्वकम्।
7. मनु स्मृति 10/43, 44
8. तस्योत्सृष्टनिवसेण् कण्ठ रज्जुक्षतत्वच : गनवर्ष्यं किरातेमवेसंरासुवेवदाखः।
9. सांकृत्यायन राहुल, हिमालय परिचय, (1) इलाहाबाद, 1953, पृ० 42

सिन्धु घाटी की सभ्यता के अन्तिम चरण तक पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में 'नाग' नामक एक जन-जाति भी निवास करती थी, जिसकी जातीय विशेषता किन्नर तथा किरात जातियों के सदृश ही थी। यद्यपि इतिहास के लिखित पृष्ठों से इस जाति की सभ्यता एवं इतिहास का कोई परिचय नहीं मिलता, परन्तु हड़प्पा की खुदाई में मिलने वाली मुहरों से यह निश्चय हो जाता है कि इस क्षेत्र में उस समय यह जाति भी निवास करती थी। क्योंकि खुदाई में प्राप्त एक मुहर में सर्प के सामने बैठा हुआ एक व्यक्ति सर्प की पूजा कर रहा है[1]। दूसरी मुहर में सर्पों के दो फ़न प्रदर्शित हैं[2]। इन मुहरों पर बने चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाग जाति उत्तर-पश्चिमी भारत में निवास करती थी, क्योंकि सर्पों की पूजा इस प्राचीन भारतीय जाति की विशेषता थी। महाभारत का अवलोकन करने से पता चलता है कि यह जाति महाभारत काल में विशेष रूप से यमुना की घाटी में निवास करती थी[3] और इस की अनेक शाखाएं पश्चिमी हिमालय के अनेक भागों में फ़ैली हुई थीं। महाभारत में यह वर्णन भी मिलता है कि अर्जुन ने नागराज वासुकि की पुत्री से विवाह किया था। आज भी पश्चिमी हिमालय के चम्बा जिले तथा कुल्लू में नागराज वासुकि की उपासना प्रचलित है[4]। अतः गद्दियार तथा इस के समीपवर्ती भाग में महाभारत काल में नाग जाति निवास करती थी। महाभारत में यह भी वर्णन मिलता है कि आर्यों ने इन्द्रप्रस्थ और मेरठ के समीपवर्ती काण्डव वन प्रदेश से नागाओं को भगा दिया। उन्होंने अपने सम्राट् तक्षक के साथ हिमालय क्षेत्र में शरण ली और वहां अपने तक्षक नामक राज्य की स्थापना की। पुराणों में ऐसे अनेक स्थलों पर नाग राजाओं और उनके राज्य का वर्णन किया गया गया है। उन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि नाग जाति का राज्य 400—500 ई० पू० तक मथुरा तथा विदिशा तक विस्तृत था और गद्दियार प्रदेश के नाग जाति के व्यक्ति चौथी और पांचवीं शताब्दी में मथुरा आदि प्रदेशों से सम्बन्धित रहे। गद्दियार प्रदेश की वेश-भूषा तथा लोकगीतों पर मथुरा के पर्याप्त प्रभाव को उसी युग से मानना अनुचित न होगा। बाद में भारत के मैदानों से आने वाले व्यक्तियों के प्रभाव से मथुरा तथा गंगा के प्रति इनका अनुराग अधिक प्रगाढ़ होता गया।

समुद्रगुप्त के शिलालेखों से स्पष्ट है कि गुप्त शासकों ने नाग जाति की सभ्यता को नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् खासा जाति ने नाग-जाति को परास्त कर पश्चिमी हिमालय क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने से पूर्व यहां (गद्दियार प्रदेश) कोल किरात, किन्नर एवं नाग जातियां निवास करती थीं।[5] उस समय गद्दियार प्रदेश की ये जातियां सुमेरिया, बेबिलोनिया, एवं हिलमन्द घाटी की सभ्यता से सम्बद्ध थीं।

खासा जाति ताम्रयुग के प्रारम्भ में तारिम नदी घाटी में निवास करती थी। उस की एक शाखा को खस जाति कहते थे।[6] 200 ई० पू० के लगभग, इस जाति ने तारिम नदी घाटी को त्याग कर काश्मीर में प्रवेश किया[7]। उस समय तक ये अपने को अरयानोयी कहते थे। उस समय तक ये सिन्धु नदी के

1. Mukerji, Radha Kamal, 'The Culture and Art of India,' London 1959, p. 1-84.
2. Himalaya Kalpdrum, Vol. I, no. 1, April-June 1964, p. 28.
3. Crook, W. 'North Western Provinces of India' London, 1894, pp. 194 and 196.
4. Himalaya Kalpdrum, Vol. I, no. 1, April—June, 1964 p. 28.
5. Kosambi, D.D. 'An introduction to the study of Indian history', Bombay-1959, P. 76.
6. सांकृत्यायन राहुल, मध्य एशिया का इतिहास, खण्ड 1, पटना, 1959, पृ० 73
7. सांकृत्यायन राहुल, हिमालय परिचय (1) इलाहाबाद, 1953 प० 55

पश्चिमी भाग के एक विस्तृत क्षेत्र में बसे हुए थे। उनकी कुछ टुकड़ियां पर्शिया और अफ़गानिस्तान में भी बस गई। पर्शिया को इरोनोई प्रदेश के नाम से सम्बन्धित किया।[1] उनकी कुछ शाखाएं 2500 ई० पू० तक भूमध्यसागर क्षेत्र में फ़ैल गई।[2]

दूसरी ओर खस जनजाति किरात, किन्नर तथा नाग जातियों से संघर्ष करती हुई गिलगित से लेकर नेपाल तक फैल गई। हिमालय की विभिन्न घाटियों में अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये इन्हें किरात, किन्नर तथा नाग जातियों से बराबर संघर्ष करते रहना पड़ा। इस प्रदेश में पहले से निवास करने वाली कोल, किरात, किन्नर, नाग जातियों को पराजित कर इन्होंने इन्हें जंगलों में छिप कर रहने या अपनी सेवा करने पर विवश कर दिया। खस जाति यहां के निवासियों को पूरी तरह विलय नहीं कर पाई। अतः धीरे-धीरे कोल, किरात, किन्नर तथा नाग जातियों की मान्यताओं, रीति-रिवाजों तथा आस्थाओं की छाप इस नवीन जाति के हृदय पर अंकित हो गई, क्योंकि प्रारम्भ से ही आर्य जाति की यह विशेषता रही है कि इसने अन्य जातियों की अपने अनुकूल पड़ने वाली विशेषताओं को ग्रहण कर लिया[3]।

आर्य भारत में आक्रांताओं के रूप में प्रविष्ट हुए। उनके मुख्य देवता अग्नि और इन्द्र थे। स्त्री देवताओं की पूजा इनमें प्रचलित नहीं थी। इन देवताओं की स्त्रियों को सामूहिक रूप में 'ग्ना:' कहा जाता था। अनार्य जातियों के कलाकार 'त्वष्ट्र' नामक देवता की उपासना करते थे। यद्यपि इस देवता को भारत के बाहर नहीं जानते, तथापि आर्यों ने ऋग्वेद के अन्तिम चरण में इसे अपना लिया। आर्यों ने भूमि को धन समझ कर, उसके विभाजन की कोई प्रथा प्रचलित नहीं की, और न भूमि विभाजन की ये कोई आवश्यकता ही समझते थे। किसी भी वस्तु का क्रय-विक्रय नहीं होता था। उनके मुख्य धन पशु थे[4]।

आक्रमणकारी आर्यों ने सिन्धु-घाटी की सभ्यता को नष्ट किया परन्तु उन्होंने पर्याप्त समय तक नये नगरों का निर्माण नहीं किया, क्योंकि पशु चारण का कार्य करने वाली इस जाति को ऐसे नगरों की कोई आवश्यकता नहीं थी[5]।

1000 ई० पू० से ही आर्य पंजाब से पूर्व की ओर बढ़ने लगे थे। अन्न की उपज बढ़ाने के लिये सर्व प्रथम लौह धातु का प्रयोग होने लगा। अनेक आवश्यक कलाओं का आविष्कार हुआ। अतः नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म मिला और 330 ई० पूर्व तक यह सामाजिक व्यवस्था एक ही प्रकार से आगे बढ़ती रही[6]।

उत्तर वैदिक काल में आर्यों के विस्तार तथा उत्पादन के कारण विभाजन की नई समस्या उत्पन्न हुई। अतः नये-नये कर्तव्यों को जन्म मिला, जिसके फलस्वरूप जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ, यद्यपि इसका बीजारोपण ऋग्वेद काल में हो चुका था। ऋग्वेद काल के अन्तिम चरण में उत्पादन का कार्य इतना विशिष्ट रूप धारण कर गया कि अग्नि तथा अन्य देवताओं की उपासना का कार्य जाति का अध्यक्ष स्वयं न करके कुछ विशिष्ट आर्य व्यक्तियों द्वारा कराने लगा। इस प्रकार आर्य जन-जाति में श्रेणी विभाजन हो गया। यज्ञों में राजा बलि

1. Strabo, 15.2.1, 15.2.9.
2. Kosambi, D.D. 'An Introduotion to the study of Indian History', Bombay, 1959, p. 76.
3. Kosambi, D. D. 'An Introduction to the study of Indian History,' Bombay, 1959, p. 76.
4. Ibid, pp. 82—83.
5. Ibid, p. 89.
6. Ibid, 1959, p. 76.

प्रदान करता था[1]। यज्ञों का कार्य शनैः-शनैः जटिल होता गया। पुरोहितों का सत्कार बढ़ने लगा। धीरे-धीरे पुरोहितवर्ग छोटी श्रेणियों में विभाजित हो गया और प्रत्येक का पृथक-पृथक गोत्र हो गया। गोत्र उस चिह्न के रूप में प्रारम्भ हुआ जिसे प्रत्येक पुरोहित अपनी-अपनी गायों के समूह पर अंकित करता था[2]।

पुरोहित जाति का प्रारम्भ मुनि विश्वामित्र से हुआ, जिन्होंने सबसे पहले इसी क्षेत्र के समीप भरतों का पौरोहित्य सम्पादित किया[3]। उस समय इस क्षेत्र के निवासियों का मुख्य कार्य पशु चराना मात्र ही था, यहां तक कि ब्राह्मण पुजारीवर्ग भी इसी व्यवसाय को करता था।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल तक खस, कोल, किरात, किन्नर तथा नाग नामक जातियां गद्दियार और इसके समीपवर्ती क्षेत्रों में निवास करती थीं, जिनके आदि धार्मिक गुरु महर्षि विश्वामित्र थे और उन्हीं के नाम से उन्होंने भरमौर (ब्रह्मपुर—ब्राह्मणों की नगरी) नामक ग्राम बसाया होगा।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जटिलता के कारण खस जाति पुनः उपजातियों में विभाजित हो गई और उन में से एक उपजाति का नाम 'कुनीन्दास' पड़ा और आज उन्हें 'कुनेट्स' तथा 'रावी' भी कहते हैं[4]। महाभारत तथा रामायण काल तक वे यथावत इस क्षेत्र में निवास करते रहे[5]। गद्दियार प्रदेश के कुण्डेल गोत्र के ब्राह्मण, राजपूत, ठाकुर तथा खत्री अपने को इन कुनीन्दास या कुलिदास की सन्तान ही मानते हैं[6]। महाभारत के सभापर्व तथा उद्योगपर्व में भी इनका वर्णन उपलब्ध होता है। वन पर्व में उपलब्ध एक वर्णन से स्पष्ट है कि महाभारत काल में यह जाति (कुलिदास) गंगा और सिन्धु के मध्य राज्य करती थी और इसने सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश को भी जीत कर, अपने राज्य में मिला लिया था। ये अपने धर्मगुरु विश्वामित्र के वरदान से ही राजा सगर के प्रकोप से बच गये। इस जाति को राजपूतों से कुछ निम्न श्रेणी में रखा जाता था। श्री कुक का मत है कि खश जाति के पश्चात् आने वाले आर्यों ने इन्हें मैदान से पर्वतीय क्षेत्रों में खदेड़ दिया था[7]। श्री फ्रेंकिस हेमिल्टन महोदय ने काश्मीर तथा नेपाल के मध्य स्थित सम्पूर्ण प्रदेश को खस जाति (इसी की उपशाखा कुलिदास हैं) का प्रदेश कहा है। श्री कुक ने यह भी स्वीकार किया है कि खस जाति (कुलिदास) और आर्यों के पुरखे एक ही थे। खस जाति की शाखा भारत में पहले आई और तत्पश्चात् आर्य आये। दोनों जातियों की रगों में एक ही रक्त था और दोनों जातियां लम्बे समय तक एक ही प्राकृतिक पर्यावर्ण में पली थीं, अतः ये घुल मिल कर शीघ्रातिशीघ्र एक हो गईं। इन्होंने रावी, व्यास और सतलुज के अनेक भागों में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये[8]। और ऋषिकाव्य काल के अन्तिम चरण तक छोटे-छोटे राज्यों के रूप में ये जनजातियां इसी क्षेत्र में निवास करती रहीं। समय-समय पर इनकी अनेक उपजातियां हो गईं। महाभारत के अन्त में जब भगवान श्रीकृष्ण द्वारका के लिये प्रस्थान करने लगे तो उनके साथ मथुरा से यदुवंशी भी काठियावाड़ में स्थित द्वारका गये, परन्तु उनके इस प्रस्थान के विषय में जो

1. R.V. X, 173. 6 Bali-hastak.
2. Brahmin Clans, J.A.O.S. 73, 1953, pp. 202-208.
3. Kosambi, D.D, 'An Introduction to the study of Indian History' Bombay-7, 1959.
4. सांकृत्यायन, राहुल "हिमालय परिचय" (1) इलाहाबाद, 1953, पृ0 55
5. पाण्डेय, विमल चन्द्र "प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास," पृ0 206
6. प्रस्तुत लेखक को इस तथ्य का अवगमन उस समय हुआ जब उसने स्वयं ही विविध गांवों में कुनन्दास (कुन्डेल) गोत्र के कुछ लोगों से साक्षात्कार किया।
7. Singh, Goverdhan, 'Origin of the Man and the Himalayas' Himalaya Kalpdrum Vol. I, no. 2, April-June, 1964.
8. Gotez, Herman, 'The Early Wooden Temples of Chamba', Brill, E.J., Leiden Netherland p. 7.

पौराणिक कथायें प्रचलित हैं, उनमें तथा अफ़ग़ानिस्तान के दरवाज (Darwaz) नामक स्थान की खुदाई में प्राप्त सामग्री में इतना अधिक साम्य है कि यह कहना असंगत न होगा कि भगवान श्रीकृष्ण अपने अनुयायियों के साथ उत्तरापथ से होते हुए काठियावाड़ की द्वारका के स्थान पर मथुरा से अफ़ग़ानिस्तान के दरवाज नामक स्थान तक गये थे[1]। पूर्ण सम्भावना है कि उनके साथ आने वाले यदुवंशियों में से कुछ उनसे पृथक रहकर भटकते रहे होंगे और उनकी कुछ टुकड़ियां गद्दियार तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रों में रह गई होंगी, और गद्दियार प्रदेश के निवासियों के साथ मिलकर एक हो गई होंगी अर्थात् पांचवीं शताब्दी ई0 पू0 उन में यदुवंशीय रक्त भी मिल चुका था। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व तक उनकी यही दशा रही।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय इस क्षेत्र में प्रचलित धार्मिक विचारधारा और चौथी शताब्दी के पश्चात् प्रचलित धार्मिक विचाधारा के विषय में तीन सम्भावनायें हैं, (1) यहां पर श्रमण विचारधारा प्रचलित थी, (2) यहां पर अश्रमण विचारधारा प्रचलित थी, (3) या ये दोनों विचारधारायें साथ-साथ प्रचलित थीं। यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि कुछ तथ्यों से प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय भी श्रमण विचारधारा का प्रभाव अवश्य था। इस विचार को तभी सत्य एवं उचित ठहराया जा सकता है, यदि जैन धर्म की सत्ता आर्यों के भारत में आने से पहले मानी जाये।[2] और ऋग्वेद के उल्लेखों की यदि जैन धर्म के संदर्भ में व्याख्या की जाये[3] तो यह निश्चयपूर्वक कहना पड़ेगा कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय इस क्षेत्र में श्रमण संस्कृति का बोलबाला था। इस तथ्य के पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

(1) प्रो0 राम प्रसाद चन्दा का कथन है:—

"सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव-मूर्तियां योगमुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धु-घाटी में योग-मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं, बल्कि खड्गासन देव-मूर्तियां भी योग की कार्योत्सर्ग मुद्रा में हैं जो विशेषतः जैन ध्यानमुद्रा है। आदिपुराण के अध्याय 15(3) आदि में इस कार्योत्सर्ग ध्यान मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुत हुआ है। इस कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन में स्थित ऋषभदेव की प्राचीन मूर्तियां ईसवी सन् के प्रारम्भ की मिलती हैं। प्राचीन मिश्र के प्रारम्भिक राजवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूर्तियां मिलती हैं; किन्तु यद्यपि इन प्राचीन मिश्र-मूर्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुरोई नामक मूर्तियों में प्रायः वही आकृति है, तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग-निस्संग भाव का अभाव है जो सिन्धु-घाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कार्योत्सर्ग ध्यान मुद्रा में युक्त जैन मूर्तियों में पाया जाता है"।[4]

इस प्रकार भगवान ऋषभ देव इतिहास में आदिम धर्म प्रवर्तक हैं। इस तथ्य की पुष्टि में दो अन्य प्रमाण और प्रस्तुत किये जाते हैं—

(अ) भरमौर के गणेश मन्दिर की वेदी पर जो पुष्पमय चित्रकारी है वह निस्सन्देह जैन या बौद्ध है, परन्तु वह जैन चित्रकारी से अधिक मिलती-जुलती है।[5]

1. Mahabharata 2.13.49/65; Kosambi, D.D., "An Introduction to the Study of Indian History", Bombay-7, 1959, p. 119.
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र "प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास" इलाहाबाद, 1958 अध्याय 15, पृष्ठ 284.
3. ऋग्वेद केशी सुक्त–10,136 या तरित संसार महार्णवं येन निमित्तेन सत्तीर्थमिति, कल्पसूत्र 7,206–288 या ऋग्वेद–10–266 या अथर्ववेद 11–5–24–26 या गोपथ ब्रा. पूर्व 2–8.
4. Modern Review, August, 1932.
5. Cunningham, A.S.R. XIV, p. 112 Vogel, A.S.R. 1902-03, p. 239, Fig. 5 and Antiquities, p. 140-142, pls VIII AX.

(ब) गद्दियार प्रदेश के केन्द्रीय स्थान भरमौर से पर्वतीय शिखर की ओर 1 मील की ऊंचाई चढ़ने पर काष्ठ का एक देवी मन्दिर मिलता है जिस में सिहारूढ़ देवी की पीतल की छोटी सी प्रतिमा के चारों ओर कुछ त्रिशूल गढ़े हैं। यहां के निवासी इस प्रतिमा को ब्राह्मणी देवी की प्रतिमा और मन्दिर को ब्राह्मणी देवी का मन्दिर कहते हैं। यहां के निवासियों का विचार है कि आदिकाल में इस क्षेत्र पर इस देवी का अद्वितीय प्रभाव रहा है और यह क्षेत्र उसकी भूमि माना जाता था। उसी के नाम पर इसे ब्रह्मपुरी कहा गया।

अब यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि यह ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी या ब्रह्मा की पत्नी ब्रह्माणी का प्रभाव क्षेत्र था। यदि इतिहास की परिधि से पहले भगवान ऋषभदेव के होने की बात को उक्त तथ्यों के आधार पर सही माना जाय तो इस प्रदेश को बाहुबली की बहन (ऋषभदेव की पुत्री) का प्रभाव मानना पड़ेगा। तब से लेकर सिकन्दर महान के आक्रमण तक श्रमण विचारधारा इस क्षेत्र में विद्यमान रही होगी। सिकन्दर महान को भी उसके आक्रमणों के समय (326 ई०पू०) पंचनद क्षेत्र में अनेक धर्मावलम्बी साधुओं के साथ-साथ जैन श्रमण लोगों के दर्शन भी हुए[1] और उसके बाद भी लम्बे समय तक श्रमण विचारधारा इस क्षेत्र में विद्यमान रही। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि श्रमण विचारधारा इस क्षेत्र में प्राचीनकाल से विद्यमान थी तो 326 ई०पू० से पहले और बाद में इस क्षेत्र में जैनधर्म स्पष्ट दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता। इस विषय में हमारा मत है कि वर्तमान चम्बा ज़िले और भरमौर को 7वीं ई०पू० में बौद्धों ने बहुत प्रभावित किया और उस क्षेत्र की श्रमण विचारधारा को गहरा आघात पहुंचाया होगा। तत्पश्चात् चम्बा ज़िले तथा भरमौर को नवीन ढंग से बसाने वाले वर्मन शासकों ने शंकराचार्य के प्रभाव से इस क्षेत्र से श्रवण सभ्यता के चिन्हों को पूरी तरह नष्ट करके इस स्थिति में ला दिया होगा कि यह क्षेत्र उनके धर्म तथा अस्तित्व का एक मात्र स्थान बन जाये। धार्मिक विद्वेष के कारण अनेक श्रमण धार्मिक चिन्हों का विनाश तथा उनका इतिहास से विलोप भारत के अन्य स्थानों की भांति यहां भी कर दिया होगा।

इस क्षेत्र के वृद्ध व्यक्तियों से साक्षात्कार करने पर पता चला कि केवल एक बार एक व्यक्ति ने चौरासिया के क्षेत्र में खुदाई की और उसे खुदाई में भी ऐसे फर्श के दर्शन हुए जिसको निर्मित करने वाली शिलायें तांबे के कुण्डों से आपस में जुड़ी हुई थीं, परन्तु इस क्षेत्र में निवास करने वाली जन-जातियों के घोर विरोध के फलस्वरूप खुदायी बन्द कर देनी पड़ी। उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि या अन्य किसी ऐतिहासिक तथ्य का पता इस क्षेत्र की गहरी खुदाई से भी चल सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां सिकन्दर महान् के समय तक आर्य और अनार्य दोनों ही निवास करते थे, जिनमें श्रमण और श्रमणोत्तर धार्मिक विचारधारायें प्रचलित थीं।

सिकन्दर महान् के आक्रमण के पश्चात् गद्दियार प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अधीन रहा और तत्पश्चात् इसने कुषाण राज्य की एक स्वतंत्र रियासत का रूप धारण कर लिया। कुषाण राज्य के पतन के पश्चात् योद्धेयों तथा अर्जुनों से मिलकर इस क्षेत्र के निवासियों ने अपने बहुत छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। शीघ्र ही उन पर अफ़ग़ानिस्तान के सेसानों, कुषाण राजाओं का राज्य हो गया और 400 ई० तक सिन्ध तक का सम्पूर्ण क्षेत्र समुद्रगुप्त के शासन में सम्मिलित हो गया।[2] कुमारगुप्त के शासन काल के अन्तिम दिनों में मिहिरकुल नामक हूणों ने गुप्त-साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण आरम्भ कर दिये और गद्दियार

1. Kosambi, D.D. 'An introduction to the study of Indian History,' Bombay-7, 1959, p. 180.
2. Gotez Herman, 'The early wooden temples of Chamba,' E.J. Brill Leiden Netherland, 1955 p. 8.

प्रदेश भी इन आक्रमणों के प्रभाव से अछूता न रह सका। अतः हूण विजेताओं एवं वीरों का कुछ रक्त इस प्रदेश के निवासियों में सम्मिलित हो गया। वे और उनके बाद आने वाले आक्रमणकारियों को यहां से हट जाना पड़ा और वे मालवा अथवा गुजरात में ही अपने राज्य स्थापित कर सके। उनकी अधिकांश टुकड़ियों को यहां से वापस जाना पड़ा। इसी प्रकार के आक्रमण भारत की उत्तरी सीमा पर अन्य जन-जातियों ने भी किये; परन्तु मालवा के यशोधर्मा ने सन् 527 ई० में उन्हें भारत से बाहर निकालकर काश्मीर में अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

527 ई० में गुर्जर जन-जाति ने भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण कर अपनी छोटी-छोटी रियासतें स्थापित कर लीं और वे पंजाब में टक्का नामक राज्य स्थापित करने में सफल रहे। उस समय भरमौर की गुर्जर राजकुमारों के राज्य के अन्तर्गत था[1]। इसी जन-जाति की कुछ टुकड़ियां राजपूताना में ग्वालियर तथा जयपुर क्षेत्र में और कुछ मारवाड़ में जाकर बस गईं, और वहां की जनता के साथ घुल-मिल कर तोमर राजपूत राजवंश को जन्म दिया। इस राजवंश का राज्य बिहार से लेकर रावी तक फैल गया।[2]

उक्त ऐतिहासिक विश्लेषण के एकपक्षीय पूर्ण स्पष्ट तथ्य तो नहीं मिलते; परन्तु इतना निश्चय हो जाता है कि इस क्षेत्र में 700 ई० तक ऐसी वर्णसंकर जाति निवास करती थी जिस की रगों में कोल, किरात, किन्नर, नाग, यदुवंशी, खश (कुन्दील), गुर्जर और हूण आदि जातियों का रक्त मिश्रित था और वह श्रमण तथा श्रमणोत्तर दोनों ही धार्मिक विचारधाराओं से प्रभावित थीं।

(ख) राजपूत काल

भरमौर म स्थित मन्दिरों की गणेश, शक्ति तथा नंदी की प्रतिमाओं के निचले भागों पर खुदे हुए संस्कृत भाषा के (शारदा लिपि में उपनिबद्ध) शब्दों को पढ़ कर जनरल कनिंघम ने यह निष्कर्ष निकाला है, कि भरमौर (गद्दियार) राज्य को प्रथम हिन्दु राज्य के रूप में स्थापित करने वाले प्रथम सम्राट् मेरू वर्मन (680 ई०पू०) के पुत्र जैस्यम्भा थे। उनके विषय में दो जनश्रुतियां प्रचलित हैं। एक के अनुसार उनका सम्बन्ध अयोध्या के राजवंश से था। वे शांति की खोज में पर्वतों में चले गये। भ्रमण करते-करते वे रावी नदी के तट पर उलांसा नामक स्थान पर पहुंचे और वहां उन्होंने तपस्या की। इस क्षेत्र के निवासियों की प्रार्थना पर उन्होंने इस क्षेत्र में अपना राज्य स्थापित किया और इस प्रकार गद्दियार प्रदेश तथा चम्बा के वर्मन राजवंश की नींव पड़ी।

दूसरी जनश्रुति के अनुसार राजस्थान के एक राज्य के सरदार का नाम 'मारू' था। उसका पुत्र जैस्यम्भा रुष्ट होकर शांति की खोज में, पश्चिमी हिमालय की ओर चला गया। भ्रमण करते हुये जैस्यम्भा एक साधु की शरण में पहुंचे, जिन्होंने उन्हें अपना शिष्य बना लिया और भरमौर (गद्दियार) में राज्य स्थापित करने की आज्ञा दी। उसी समय रावी नदी के तट पर खड़ामुख नामक स्थान पर आज्ञाचारी ऋषि तप करते थे। उन्हें भगवान शंकर ने जैस्यम्भा के पहुंचने से पूर्व स्वप्न में यह आज्ञा दी थी कि वे राजकुमार का सत्कार करें। जैसे ही जैस्यम्भा उस स्थान पर पहुंचे तो उन्होंने उन्हें डोरा-टोपा, चोला आदि भगवान् शिव की वेश-भूषा भेंट की। वे गद्दी बन गये और गद्दियार प्रदेश में अपना राज्य स्थापित कर लिया। पश्चिम की ओर छतरारी नामक स्थान तक उनका राज्य फ़ैल गया[3]।

1. Newell, W.H. 'Report on Scheduled Castes and Scheduled tribes,' Census of India, 1961, Vol. XX-part V-B (H.P.). 1965 -p. 5.
2. Gotez Herman 'The early wooden temples of Chamba,' E.J. Brill Leiden, Netherland 1955, p. 9.
3. Singh, Ram Chander Pal, 'A Village Survey of Brahmaur' census of India, 1961, Vol. XX part V, no. 5, Simla, 1963, p. 5.

मेरू वर्मन तथा जैस्बम्भा में से इस क्षेत्र का आदि शासक कोई भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह निश्चय है कि 7वीं ई० से 10वीं ई० तक का इस क्षेत्र का इतिहास धूमिल है, क्योंकि वह इतिहास प्रमाणित आधारों पर अवलम्बित नहीं है। गद्दियार प्रदेश के लोगों में यह जन-श्रुति प्रचलित है कि वे अजय-वर्मन के शासन-काल में (760 ई०) इस क्षेत्र में आये। 780 ई० में महामारी के प्रकोप से इस क्षेत्र की जनसंख्या पर्याप्त घट गई और किसी बाह्य सत्ता ने यहां के राजाओं को परास्त कर यहां पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसकी पुष्टि इस प्रदेश की राज वंशावली से भी होती है और इस क्षेत्र (चम्बा जिले) की जनता की भी धारणा यही है।

बृहत्संहिता के अनुसार इस क्षेत्र पर आक्रमण करने वाले व्यक्ति (बाह्य सत्ता) काश्मीर तथा उसके समीप के निवासी थे; परन्तु अन्य प्रमाणों के आधार पर तिब्बत की किरा जाति ने इस क्षेत्र पर आक्रमण कर यहां अपना राज्य स्थापित कर लिया[1]।

इन प्रमाणों में भगवान् बुद्ध की प्रशंसा हेतु तिब्बती भाषा के वे शब्द हैं जो भरमौर से कुछ ही दूर स्लेटों की खानों के दूसरी ओर पनचक्की के समीप एक चट्टान पर खुदे हुये हैं। डा० बोगल का मत है कि ये शब्द 650-800 ई० के मध्य किसी भी समय खोदे गये थे। डा० बोगल द्वारा इनकी खुदाई का निश्चित किया गया काल स्वर्णवर्मा के शासन काल से मेल भी खाता है। इसी पहाड़ी के दूसरी ओर बोनपो नाम के तिब्बती सरदार का नाम भी खुदा हुआ है। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि कुछ समय के लिये इस क्षेत्र पर तिब्बत निवासियों का राज्य भी अवश्य रहा होगा या वे आक्रांता के रूप में इस क्षेत्र में आये और वापस चले गये[2]।

साहिल वर्मन (920 ई०) के शासन काल में भरमौर की राज्यसत्ता कुल्लू, कांगड़ा तथा बाराभंगाल तक स्थापित हो गई।[3] सन् 1070 में काश्मीर ने गद्दियार प्रदेश पर आक्रमण किया; परन्तु काश्मीरियों को पराजय का मुंह देखना पड़ा।

उक्त विजय और पराजयों का फल यह हुआ कि बाराभंगाल से काश्मीर तक और तिब्बत से कांगड़ा तक जन-समूह का मिश्रण, सामाजिक सम्पर्क तथा जनता का एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरण होने लगा और गद्दी जन-जाति के कुछ व्यक्ति भरमौर से स्थानान्तरण कर, जम्मू तथा कांगड़ा में भी फैल गये। इस समय तक भी स्थानीय युद्धों तथा बाहरी आक्रमणों का क्रम बन्द नहीं हुआ था।

(ग) मुस्लिम एवं आधुनिक काल

सन् 1175 में विजय वर्मा ने काश्मीरियों, लद्दाखियों तथा मुस्लमानों को परास्त कर, अपने राज्य का विस्तार किया; परन्तु आगामी 150 वर्षों में इस रियासत के कार्यों के विषय में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। सन् 1192 में कांगड़ा (त्रिगर्त) ने महमूद गजनवी के आक्रमण के समय पृथ्वीराज का साथ दिया; परन्तु इस युद्ध में पृथ्वीराज को परास्त होना पड़ा।

1. Ibid, p. 7.
2. Newell, W.H. 'Scheduled Castes and Tribes' Census of India, 1961, Vol. XX, part V-B (H.P.), 1965, p. 4.
3. Singh, R.C. Pal, 'A Village Survey of Brahmaur, Census of India, 1961, Vol. XX part 5 no. 5, Simla-5, 1963.

पृथ्वीराज की पराजय का यह परिणाम हुआ कि भारत के मैदानों के राजपूत तथा ब्राह्मण मुस्लमानों के आतंक से बचने के लिए हिमालय की इन घाटियों (गद्दियार प्रदेश) में शरणार्थी के रूप में जा छिपे और धीरे-धीरे गद्दियार प्रदेश तथा समीपवर्ती राज्यों के अंग बन गये।

राजपूतों के इन पहाड़ियों में प्रवेश करने से पूर्व यहां के गांवों पर राणों का प्रभुत्व था। ये नवीन आगन्तुक राजपूत इन राणों के स्थान पर अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास करने लगे। इन्होंने राणों के विरुद्ध षड़यंत्र रचने का कार्य प्रारम्भ कर दिया और प्रभुसत्ता प्राप्त करने के प्रयास का यह क्रम इसी प्रकार चलता रहा। ये राजपूत अपने को राणों से ऊंचा मानते थे; अतः अपने आपको राणों से पृथक रखने के लिये वे अपने आपको ठाकुर कहने लगे। परन्तु ये लम्बे समय तक अपने को स्थानीय जनता से पृथक न रख सके और लगभग आगामी 150 वर्षों में स्थानीय जनता में घुल मिल कर एक हो गये। इस प्रकार सन् 1320 तक गद्दियार प्रदेश की नई सामाजिक व्यवस्था का नया स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत हो गया। उस समय तक कांगड़ा तथा चम्बा समेत अन्य समीपवर्ती (कांगड़ा आदि) राज्यों का ऐसा एक संघ बन चुका था जो भारत की उत्तर पूर्वी सीमा से या भारत के मैदानों से होने वाले आक्रमणों को रोक सके।[1] इस समय चम्बा (गद्दियार प्रदेश समेत) कांगड़ा के नेतृत्व में कार्य करने वाली स्वतंत्र रियासत थी।

14वीं शताब्दी इस क्षेत्र के लिये आक्रमणों एवं युद्धों का काल था। कांगड़ा, चम्बा तथा अन्य समीपवर्ती देशी रियासतों के संघ को सन् 1325 में तातारखां के आक्रमणों का सामना करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र की जनता की बहुत क्षति हुई। सन् 1327 में मुहम्मद तुग़लक ने चीन पर आक्रमण करते समय पुनः कांगड़ा पर चढ़ाई की और एक बार पुनः कांगड़ा की जनता एवं सेना को भारी क्षति हुई। सन् 1342 में एक बार पुनः तातारखां ने कांगड़ा तथा अन्य उत्तरी पर्वतीय राज्यों पर चढ़ाई की। इन पर्वतीय तथा समीपवर्ती क्षेत्रों की जनता भय के कारण पुनः इन आन्तरिक घाटियों में भाग निकली। इस समय तक कांगड़ा इतना निर्बल हो चुका था कि चम्बा के सम्राट् वेरेशी वर्मा ने अपने को पूर्ण स्वतंत्र घोषित कर दिया और लगभग एक शताब्दी तक यह साम्राज्य छुट-पुट मुठभेड़ों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से प्रगति करता रहा।

सन् 1513 में सम्राट् आनन्द वर्मा ने उत्तरी भारत के मैदानों से अपने राज्य में कला, साहित्य एवं भवन निर्माण कला का विकास करने के लिये अनेक कलाकारों, पुजारियों को आमंत्रित किया, जिन्होंने इस क्षेत्र की जनता के हृदयों में हिन्दू-परम्पराओं एवं मान्यताओं के प्रति आस्था को और भी अधिक प्रगाढ़ कर दिया। यद्यपि राज्य की शक्ति बढ़ती जा रही थी, तथापि समय समय पर मुगल काल में अनेक शासकों ने चम्बा के राजा से कर वसूल किया, जैसे सन् 1545 में सलीम शाह सूर ने चम्बा के गणेशी वर्मा से कर लिया। सन् 1573 में यह राज्य स्वतंत्र रियासत के रूप में सम्राट् अकबर के राज्य से सम्बन्धित हो गया।[2] औरंगज़ेब के शासनकाल में, उसकी धार्मिक कट्टरता से तंग आकर दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों के ब्राह्मण और राजपूत तथा लाहौर के समीपवर्ती क्षेत्र के खत्रियों के समूह गद्दियार प्रदेश में आकर शरण लेने लगे। आज गद्दियार के खत्री तथा ब्राह्मण अपने को उन्हीं की सन्तान बताते हैं।[3] गद्दियार प्रदेश के खत्रियों में बसने के विषय में एक कविता प्रचलित है, जिसका प्रारम्भिक पद इस प्रकार है "बसयो रे भरमौर, उजड़ियो रे लाहौर"। इस पद में भरमौर के प्रति प्रेम और लाहौर के प्रति घृणा व्यक्त की गई है।

1. Gotez, H., Baroda 'History of Chamba state in later Middle Ages,' Journal of Indian History, Vol. XXX, 1952, University of Travencore p. 296.
2. Gotez, H. Baroda 'History of chamba State in later Middle Ages,' Journal of Indian History, Vol. XXX, 1952, University of Travencore, p. 296.
3. Rose, H.A. 'A Glossary of the Tribes and castes of the Punjab and N.W. Frontier Provinces', Vol. II 'Lahore, 1911, p. 2-3.

ब्रिटिश शासन-काल में यह प्रदेश सिक्खों के प्रभाव से मुक्त रहा। ब्रिटिश शासन की देख-रेख में उन्नति करते हुए सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत गणराज्य में विलीन हो गया । आज यह चम्बा जिले की एक तहसील मात्र ही है ।

उक्त विश्लेषण से यह प्रमाणित होता है कि गद्दियार प्रदेश में रहने वाले गद्दी (राजपूत, ठाकुर, राठी, राणा, ब्राह्मण तथा खत्री) खश तथा जाति के बाद में आने वाले आर्यों की सन्तान हैं, जिनमें समय-समय पर यदुवंशियों, हूणों, गुर्जरों तथा राजपूतों का रक्त भी सम्मिलित होता रहा और इस प्रकार एक नई गद्दी नामक वर्णसंकर जाति का जन्म हुआ । डोम, सिपी, हाली आदि कोल, किरात, किन्नर तथा नाग जातियों के अवशेष हैं, जो वैदिककाल से बहुत समय पूर्व से इस क्षेत्र में निवास करते हैं । वर्तमान काल तक समय-समय पर अनेक जन-प्रवाह यहां आकर इनमें सम्मिलित होते गये और इन्हीं की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक व्यवस्था का अंग बन कर इनके साथ समन्वित हो गये । यद्यपि समय-समय पर इनमें श्रमण और श्रमणोत्तर संस्कृतियों का प्रचलन रहा, परन्तु आज ये पूर्ण रूपेण पिछड़े हुए हिन्दुओं के समान हैं ।

आज भी गद्दी जन-जाति की नाड़ियों में खश जाति के रक्त की प्रधानता है और उन्हीं की संस्कृति की गहरी छाप है । यह निम्नलिखित तथ्यों से स्वतः सिद्ध हो जाता है—

1. गद्दियार प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी या काली के मन्दिर मिलते हैं, जिन्हें इस क्षेत्र में चौमुण्डा देवी के मन्दिर कहकर सम्बोधित किया जाता है । इनकी भवन-निर्माण कला से यह पूर्णत: स्पष्ट है कि इनका निर्माण गुप्त शासनकाल के अन्तिम वर्षों में हुआ था । समीप पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि ये उन स्थानों के नवीनीकरण हैं जो किसी पवित्र वृक्ष से सम्बन्धित थे या किसी अज्ञात देवता का निवास स्थान समझे जाते थे । वृक्षों की पूजा प्रारम्भ में हिन्दू धर्म का अंग न हो कर, खश संस्कृति का अंग मात्र ही थी । प्रारम्भ से खश जाति और बाद को उसके अवशेष वृक्षों की पूजा करते चले आ रहे है ।[1]

2. गद्दी जन-जाति अर्द्धभ्रमणशील है । यह प्रारम्भ में हिन्दूकुश पर्वत के मार्ग से पंजाब में प्रविष्ट हुई। इसकी कुछ टुकड़ियां हिन्दुकुश के क्षेत्र में ही बस गई थीं । कालान्तर में हिन्दूकुश के क्षेत्र में बसने वाली इन जातियों को विभिन्न जातीय नामों से सम्बोधित किया जाने लगा, जिनमें काफ़िर नाम की एक जन-जाति भी इस क्षेत्र में प्रसिद्ध है ।[2] काफ़िर, खश, पठान तथा गद्दी जातियों की जातीय समताओं के मूलभूत एवं ह्रासोत्पन्न तत्वों (crude and Reduced Cofficient Racial likeness) में गहरा सम्बन्ध है ।[3] इन में (गद्दियों, खशों, पठानों तथा काले काफ़िरों) जो कुछ भी जातीय अन्तर मिलते हैं वे अधिक नहीं हैं । इनमें आधारभूत रक्त एक ही जाति का है, जो विभिन्न जातियों में विभिन्न मात्राओं में मिश्रित है । इनके मध्य मिलने वाले अन्तर इनके लम्बे समय तक पृथक पर्यावरण में रहने, अन्तर्जातीय विवाह तथा इन जातियों की खान-पान की विभिन्नता का ही फल है[4] । विभिन्न जातियों का यह वर्गीकरण एवं समन्वय प्राचीन काल में भी हुआ है और अब भी हो रहा है ।[5]

1. Gotez, Herman 'The early wooden temples of Chamba, E.J. Brill Leiden, Netherland, 1955, p. 48.
2. Ibid, p. 47.
3. Guha (Dr.), B.S. 'A-Racial Affinities of the People of India, Census of India, 1931, Vol I, part III-Ethnographical. Simla-5, 1935, pp. XIII, XXIII, 25 Table VI and Plate No VII
4. S.S. Sarkar, 'The Aboriginal Races of India,' Calcutta, 1954, pp. 79, 116.
5. Hutchison and Vogel, J. Ph, 'A history of Punjab Hill States,' Vol. I, Lahore, 1933.

3. गद्दियार प्रदेश के होली, कुगति तथा तुन्दा नाला क्षेत्र में परस्पर विवाह-सम्बन्धों में विशेष बाधाएं हैं। भरमौर के समीपवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले गद्दी कुगति तथा होली क्षेत्र से विवाह में लड़कियां तो स्वीकार कर लेते हैं; परन्तु अपनी लड़कियों का विवाह वहां नहीं करते।[1] इस तथ्य से यह सिद्ध हो जाता है कि गद्दियार प्रदेश के ऊंचे भागों में निवास करने वाले व्यक्ति इस क्षेत्र में पहले आए। उनमें खश जाति का शुद्ध रक्त अधिक है, जबकि गद्दियार के निचले भागों में निवास करने वाले व्यक्तियों में इस रक्त की मात्रा कम है। भरमौर के समीपवर्ती क्षेत्र के निवासी मुस्लिम काल में भारत के मैदानों से इस क्षेत्र को स्थानान्तरित हुए। ये अपने आपको गद्दियार प्रदेश के अन्य व्यक्तियों से ऊंचा मानते हैं।

अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस क्षेत्र के निवासियों को गद्दी कहकर क्यों और कब से सम्बोधित किया गया। इस विषय में विद्वान-मण्डली में कई विचारधाराएं प्रचलित हैं:–

1. प्राचीन काल से ही, भारत की विभिन्न रियासतों की राजधानियों को गद्दी कहकर सम्बोधित किया जाता रहा है। चूंकि भरमौर भी प्राचीन काल से ही उत्तर-पश्चिम से आने वाले किसी न किसी आक्रमणकारी की राजधानी रहा है, इसलिए भरमौर भी किसी न किसी रूप में गद्दी बनी ही रही। गद्दी से सम्बन्धित रहने के कारण यहां के निवासी अपने को "गद्दी वाले" कहकर सम्बोधित करते रहे होंगे जो कालान्तर में गद्दी ही बन कर रह गया। यदि यह सत्य मान भी लिया जाय तो यह कह सकना कठिन है कि ऐसा कब हुआ।

2. गद्दी नाम की उत्पत्ति के विषय में श्री हुशिसन एवं वोगल का मत है कि "गादरान" (Gaderan) शब्द संस्कृत के गड्डर शब्द से बना है और संस्कृत भाषा में गड या गडडर का अर्थ भेड़ों के प्रदेश से है। भेड़ों को चराने वाला व्यक्ति अर्थात् चरवाहा संस्कृत भाषा में गड्रिक (गड् डर+ठ्क (इक)=गडड्रिक गड्डरम् अनुधावतीति) कहलाता है। उसी से विकसित होते-होते गद्दी शब्द आया है।[2] चूंकि वैदिक काल और उस से पहले से ही पंजाब में भेड़ चराने का कार्य होता था। अतः कार्य विभाजन की प्रथा के पश्चात् इस क्षेत्र के वे निवासी जो पशु (भेड़-बकरियां) चराने का कार्य करते थे 'गद्दी' कहलाए।

3. संस्कृत भाषा में गडु शब्द से अभिप्राय एक ऐसे व्यक्ति से हैं जिसकी कमर उभरी हुई हो और गड्र शब्द का अर्थ भेड़ है। गडरिया शब्द का विकास गडरिका शब्द से हुआ है, जो ऐसे व्यक्ति का वाची है जिसकी कमर उभरी हुई हो और जो भेड़ चराने का कार्य करता हो[3]। गद्दी जाति के व्यक्ति काली ऊन का डोरा कमर पर कई लपेटों में इस प्रकार बांधते हैं कि उनकी कमर 5 इंच ऊपर को उभर जाती है। अतः उन्हें वास्तव में ही "गड" (संस्कृत शब्द गडु से विकसित) कहा जा सकता है और वे भेड़ चराने का कार्य भी करते हैं। कालान्तर में वे गद्दी कहलाने लगे।

4. गद्दी लोग ग्रीष्म ऋतु में ऊंची पहाड़ियों में कार्य करते हैं और शीतऋतु में निम्न पहाड़ियों में कार्य करते हैं या मैदानों में उत्तर आते हैं। ये सदैव अपने साथ लाठी रखते हैं अतः उनकी लाठी को "गदा" मानकर ही निम्न पहाड़ियों के निवासी उन्हें गद्दी (गदा रखने वाला) कहने लगे होंगे।

---

1. W.H. Newell, Census of India, 1961, Scheduled Castes and Scheduled Tribes, p. 39.
2. Hutchinson and Vogel, J. Ph. 'History of Punjab Hill States, Vol I, Lahore, 1933, p. 274 Footnote.
3. "संक्षिप्त हिन्दी सागर" नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 6वां संस्करण, 2018 विक्रमी, तथा
Apte V.S. 'The Practical Sanskrit-English Dictionary (Parasad Parkasan, Poona, revised edition, 1959.)

5. महाभारत में एक ऐसा वर्णन आया है कि कौशिकी नदी के साथ हिरण्यवती-दृषद्वती नामक नदियां मधुमती के समीप आकर आपस में मिलती थीं, परन्तु कनिंघम महोदय तथा जन श्रुति के अनुसार यह संगम रामनगर, निण्धु, कोपर, भेवाली तथा मोहना आदि अनेक स्थानों से सम्बन्धित माना गया है[1]। खेड़ी रामनगर नामक स्थान कुरु क्षेत्र के पश्चिमी भाग में स्थित है और इस नगर से 6 मील पूर्व की ओर खेड़ी गाधियान नामक नगर स्थित है। यह कहा गया है कि यह नगरी पहले गाधी या गाथिन् कहलाती थी और यह विश्वामित्र के पिता गाथिन् की नगरी थी। खेड़ी गाथिन् का अर्थ उन पुरवों की बाड़ से है जिन में विश्वामित्र के पिता गाथिन् के वंशजों का आधिपत्य था[2]। ऋग्वेद से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि कौशिक (विश्वामित्र) भरतों के गुरु थे, जो दृषद्वती और सरस्वती के मध्यवर्ती प्रदेश में निवास करते थे।[3]

6. भरमौर रेस्ट हाऊस के समीप ब्राह्मी लिपि में खुदे हुए दो ऐसे शिलाखण्ड मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में इस प्रदेश पर भरतों का राज्य था। अतः यह सम्भावना उचित प्रतीत होती है कि भरतों ने इन्हें रावी के ऊपरी भाग में राज्य के रूप में कुछ स्थान दे दिया होगा और तभी से उनकी सन्तान वहां निवास करती चली आ रही है। गाधी की सन्तान होने के कारण प्रारम्भ में ये अपने को गधिया कहने लगे होंगे और कालान्तर में यह शब्द विकसित होकर गद्दी हो गया होगा।

7. कनिंघम महोदय का भी यही मत है कि वर्तमान गद्दी गाधिया की सन्तान हैं, जो प्राचीन काल में जन-जाति के रूप में उत्तर पश्चिमी भारत के अनेक भागों में फ़ैली हुई थी[4]। इस प्रकार इस जन जाति के मूल पुरुष विश्वामित्र के पिता गाथिन् थे। गद्दी प्रदेश की सभी जातियां; विशेषतः ब्राह्मण, अपने आपको मूल रूप से इन्हीं की सन्तान मानते हैं।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि गद्दी जाति खश जाति की सन्तान हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध काफ़िर तथा पठानों से है। प्रारम्भ में इनके एक ऋषि का नाम गाथिन् था, जिनके पुत्र विश्वामित्र थे। ये इसी क्षेत्र (वर्तमान गद्दियार) में निवास करते थे। क्रमशः उनकी सन्तानों की वृद्धि होती गई और वे गद्दिया जन-जाति के रूप में उत्तर पश्चिमी भारत के अनेक भागों में फ़ैल गई और कालान्तर में ये गद्दिया ही "गद्दी" नाम से पुकारे जाने लगे। इसके पश्चात् अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से भारत के मैदानों में महाभारत काल में यदुवंशी और तत्पश्चात् राजपूत; ब्राह्मण और खत्री आदि अनेक जातियों के व्यक्ति यहां आकर बसते रहे और यही स्थिति उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने वाले गुर्जर, हूण आदि के विषय में रही। 17वीं शताब्दी तक इस क्षेत्र में बाहर के व्यक्तियों के बसने का तांता निरन्तर लगा रहा। गद्दियार प्रदेश के बाहर से आने वाले व्यक्ति भी इस प्रदेश के निवासियों के साथ घुल मिल कर एक हो गये और वे भी गद्दी कहे जाने लगे। इन के रक्त में खश जाति के रक्त की ही प्रधानता रही। इनकी अनेक शाखायें आर्थिक कारणों से भरमौर (गद्दियार) से निकल कर जम्मू, कांगड़ा तथा चम्बा ज़िले के अनेक स्थानों पर बस गई। वे गद्दियार के गद्दियों के रीति-रिवाजों को आज भी मान रही हैं। इस प्रकार निश्चय हो जाता है कि गद्दी लोग इस क्षेत्र के आदिवासी हैं। इनके आदि पुरुष विश्वामित्र के पिता गाथिन् थे। अतः इनका अस्तित्व वैदिक काल से ही रहा है।

1. Cunningham, A.S.R. Vol. XIV, Calcutta, 1887.
2. Bhargava, Manohar Lal 'The Geography of Rig Vedic India', The Upper India Publishing House, Lucknow, 1964, p. 65.
3. Ibid p. 65.
4. Gotez, H. 'History of Chamba state in later Middle Ages,' Journal of Indian History, Vol. XXX, part III, University of Travancore, no. 9, 1952, p. 263.

दिगम्बर जैन कालेज,
बड़ौत (मेरठ) उ० प्र०

पशु बलि यज्ञ-त्यौहार-परम्परायें

—तुलसी रमण

यद्यपि धरा पर रहने वाले लोग अनेक और पृथक-पृथक धर्मों में विश्वास रखते हैं, फिर भी परम्परा व जीवन की शैली समान ही है। हम सब परम्परा की सन्तति ही तो हैं। ऐतिहासिक धारा प्रवाह में हमारा स्थान भी सुनिश्चित ही है। प्रत्येक संस्कृति का उदर भरण कार्य उसकी प्राचीन नवीन परम्परायें ही करती हैं। हमारी हिमाचली संस्कृति को प्राचीन परम्पराओं का दर्पण कहना अतिशयोक्ति न होगी। यहां की प्राचीन परम्पराओं में पशुबलि-परम्परा भी यज्ञ एवं त्यौहारादि के रूप में अतीत से सुरक्षित है। ज़िला शिमला में यह परम्परा प्राचीन अनार्य संस्कृति का संकेत देती हुई "सत्वै सत्वानि जीवन्ति" इस महाभारतोक्ति को भी सार्थक बनाती है। इस परम्परा को हम मुख्यतः चार भागों में बांट सकते हैं; जैसे—

1. यज्ञ स्वरूप प्रधान—शान्त पूजन व चेरशी।
2. यज्ञ-त्यौहार स्वरूप प्रधान—भूंडा माति व बलटी।
3. त्यौहार स्वरूप प्रधान—त्यौर, बकरीत व गोठ।
4. दोषादि निवारण स्वरूप प्रधान—निरबाह, शुद्धि व मूंडरोला।

1. यज्ञों में बलि देना तो वैदिक काल से प्रचलित है परन्तु यहां घृत-यव एवं पाजा (वृक्ष) की पतियों इत्यादि के हवन (हुमणा) से बढ़कर बलि का विशेष महत्त्व समझा जाता रहा है। इस प्रकार के पशुबलिप्रधान यज्ञों में निम्न प्रसिद्ध हैं—

शान्त—यह शब्द कर्मकाण्ड प्रयुक्त संस्कृत शब्द शांति का अपभ्रंश रूप है। प्रमुख (खूंदों के) गावों में देवी देवताओं की पूजा करने के उद्देश्य से शांति यज्ञ के रूप में इसे किया जाता है। इस में चारों दिशाओं से देवी देवताओं को आवाहित किया जाता है। इस अवसर पर विधिवत कुण्ड बना कर हवन किया जाता है, जिसे हुणना या हुमणा कहा जाता है। जो देवी देवता मन्त्रों द्वारा हवन को ग्रहण करने के लिये आवाहित करने पर पहुंचते हैं उनके लिये देशाचारानुसार बलि देना भी जरूरी समझा जाता है। अतः अनेक बकरों व खडूओं की बलि दी जाती है। अनेक स्थानों पर भैंसों को भी काली इत्यादि के लिये बलि में दिया जाता रहा है। लेकिन अब "अजा पुत्रं बलिं दद्यात् देवो दुर्बल घातकः" इस उक्ति की ही सार्थकता बनाये रखी जाने लगी है। कालका (काली) व दुर्गा को बकरे की तथा नरसिंह, भैरव, लंकड़ा इत्यादि को खडू की बलि विशेष रूप से दी जाती है। कुछ देवता दोनों की बलि भी लेते हैं। इन पशुओं को पानी छिड़क कर थरथराने योग्य बनाकर या मन्दिर के चारों ओर घुमाकर बलि में दिया समझा जाता है, तदुपरांत मन्दिर की छतों या अन्य निश्चित स्थान पर तलवार के घाट उतार दिया जाता है।

पहले यह यज्ञ हर बारह वर्ष के बाद होता था, लेकिन अब आर्थिक दृष्टि से अनुकूल समय देखकर ही इसका आयोजन किया जाता है। जब मन्दिर का नवनिर्माण या मुरम्मत का कार्य समाप्त होने पर छत्त पर आखिरी, खम्भा व शोभायमान लक्कड़ (कुरड) लगाया जाता है तब यह शांत यज्ञ होता है। जब देवी-देवता

बद्रीनाथ, केदारनाथादि तीर्थाटन करके लौटते हैं तब भी शांत होती है; तथा स्वेच्छया किसी कार्य सिद्धि के लिये लोग अकेले या सामुहिक रूप से भी इसका आयोजन करते आये हैं ।

इस अवसर पर दूर-दूर से लोगों को आमंत्रित करके पटांडे, सीडू इत्यादि के साथ कड़छी भर भर कर घी खिलाया जाता है । इस यज्ञ में हजारों की संख्या में लोग इकट्ठे होते हैं तथा सैंकड़ों मन अन्न सहजभोज के रूप में खा जाते हैं । दूर दराज के पहाड़ी क्षेत्रों में इतने लोगों का एकत्र होकर यज्ञ में भाग लेना साधारण बात नहीं है । जिला शिमला के झड़ग (जुब्बल), पुजारली (जुब्बल व चोहड़), घूण्ड, देवठी, गुठाण, मानण, शीला, कढारन, चांदनी (ठियोग), तथा सरांह व गड़ाला (चौपाल) तथा अनेक अन्य स्थानों में शांत यज्ञ किये जाते रहे हैं । इस क्षेत्र का यह सबसे प्रमुख व प्राचीन यज्ञ माना जाता है ।

पूजन—यह एक प्रकार का लघु पूजन स्वरूप यज्ञ ही है । लोग प्रति वर्ष या स्वेच्छा से कभी भी शुभ मुहूर्त में भरपूर सस्य व आरोग्य की प्राप्ति के लिये अपने इष्ट देवी देवताओं का श्रद्धा से पूजन करते हैं इस में सामुहिक रूप से लोग बलि भी चढ़ाते हैं । इस अवसर पर हवन कार्य केवल एक बड़े कड़छे (दणारे) तक ही सीमित रह जाता है । इसी में अग्नि लेकर घृणादि द्रव्य डालकर पूजन किया जाता है । इस में स्थानीय भाषा में स्तोत्रादि द्वारा अतिवृष्टि व अनावृष्टि से बचने के लिये भी लोग अराधना करते हैं । ऊंची चोटियों पर स्थित देवियों की विशेष पूजा की जाती है । देवी को हलुए (कड़ाह) का भोग भी लगाया जाता है । अनेक स्थानों पर लोग परम्परानुसार देवी देवताओं के पास जाकर मनुष्यों व पशुओं को किसी विशेष महामारी से बचाने के लिये भी पूजन करते हैं ।

इस प्रकार पूजन लगभग प्रत्येक देवस्थान में होते हैं । नागज (घूण्ड), शाली देवी (मधान), कण्डा (बलसन), मतरूड़ा (कुमार सैन), खदराला की चोटी इत्यादि अनेक स्थानों पर होते हैं—ये देवी देवताओं के पूजन ।

चेरशी:—यह भी पूजन की भांति ही एक छोटा यज्ञ है । केवल अन्तर इतना है कि यह पूजन तीसरे वर्ष होता है । अतः यह चेरशी नाम से प्रसिद्ध है । जिन इलाकों में चेरशी का रिवाज होता है, वहां यह हर तीसरे वर्ष अवश्य करनी होती है, अन्यथा देवी देवता कुपित हो जाते हैं । आखिर उन्हें अभ्यस्त जो किया गया है । लोगों की धारणा है कि चेरशी दिये बिना प्रजा में व्याधि फैलती है व फसलें नष्ट हो जाती हैं ।

इस अवसर पर पूजन से बढ़ कर महत्त्व बलि का होता है । पहले से ही बकरे व खाड़ू चेरशी के लिये पाले जाते हैं । उन्हें बेचा भी नहीं जा सकता । चेरशी की प्रथा बलसन, ठियोग, घूण्ड, चौपाल इत्यादि अनेक क्षेत्रों में विद्यमान है । अनेक स्थानों पर इस प्रथा को समाप्त भी कर दिया गया है । ऐसी प्रसिद्ध व आवश्यक समझी जाने वाली प्रथा को समाप्त करना भी अपने आप में कोई साधारण बात नहीं ; क्योंकि परम्परा की पूजा विशेष महत्वपूर्ण अंग रहा है हमारे इन पहाड़ी क्षेत्रों की संस्कृति का । कुछ स्थानों पर तीन वर्षों से अवधि बढ़ा कर चेरशी शब्द की सार्थकता को भी चुनौती दे दी गई है, फिर भी किसी न किसी रूप में चेरशी अभी जीवित है ।

2. पशु बलि परम्पराओं के अन्तर्गत कुछ अनुष्ठान यज्ञ स्वरूप होते हुए भी त्यौहारों का आवरण धारण करते जा रहे हैं । इनका मुख्य स्वरूप तो यज्ञ जैसा ही है लेकिन समयानुसार परिवर्तनशीलता से इन यज्ञों ने त्यौहारों

का रूप भी साथ-साथ धारण कर लिया है । इस प्रकार के यज्ञ-त्यौहार स्वरूप प्रधान पशुवलि परम्पराओं में निम्न प्रसिद्ध हैं :—

भूंडा:—सर्वप्रथम यह यज्ञ के रूप में ही प्रारम्भ हुआ था लेकिन अब त्यौहार की झलक भी काफ़ी कुछ दिखाई देती है । कहते हैं परशुराम ने नरमेध यज्ञ के रूप में निरमण्ड में भूण्डा किया था ।[1] कालान्तर में भी प्रमुख भूण्डा वहीं होता आया है जिसमें नर वलि दी जाती रही ।[2] इसके अतिरिक्त इसी प्रकार भूण्डा चौराहा, कुई, (रोहड़,) तथा जुब्बल के कुछ स्थानों को मिलाकर कुल 12 स्थानों में होता था[3] अब नरवलि के स्थान पर पशु बलि ही दी जाने लगी है ।

भूंडा शब्द की परिभाषा अपभ्रंश के जाल में फंसी है । पहाड़ों में लोग हिंसाप्रिय वीरों को भड़ (Bhour) शब्द से पुकारते आये हैं । आज भी हिंसा पर उतारू व्यक्ति को "भड़ियादी" कहा जाता है । ऐसे ही कुछ देव स्वरूप वीरों को भी भड़ (Bhour) कहा जाता है । इस प्रकार के देवताओं को दी जाने वाली बलि भूड़ अर्थात् भड़ (Bhour) को हिंसा प्रिय होने के नाते प्रसन्न करने हेतु दी जाने वाली बलि स्वरूप भेंट कहलाने लगी । कालान्तर में अनेक देवता भूड़ लेने के तथा लोग स्वार्थ सिद्धि के लिये इसे देने के लिए अभ्यासी होते गये । बात यहां तक पहुंची कि 'भूड़' रिश्वत के रूप में देवताओं को दिया जाने लगा । आज भी लोग देवता को 'भूड़' देकर अपने शत्रु का नाश करवाते हैं । वह शत्रु जब देवता के प्रकोप से प्रभावित होकर उसे पूछना चाहते हैं तो देवता मौन साध लेता है । इस पर वह प्रभावित व्यक्ति बात समझ कर कह बैठता है कि 'भूड़ खाकर वचन (आखर) मत छिपाना (चोरना) हे देवता!' तब वह व्यक्ति भी देवता के प्रकोप का सन्तुलन बनाने के लिय 'भूड़' देकर देवता से अपना पीछा छुड़ाता है । अतः यह सिद्ध होता है कि हिंसा प्रिय वीर (भड़) देवताओं व देवियों को स्वार्थसिद्धि हेतु प्रसन्न करने के लिये दी जाने वाली बलि ही भूड़ है । जो देवता इस प्रकार की बलि लेना उचित नहीं समझते वे पहले ही कह देते हैं कि मैं "भूड़िया" नहीं हूं ।

इस प्रकार देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जब बलि प्रधान यज्ञ का आयोजन प्रारम्भ हुआ तो इस यज्ञ में दी जाने वाली बलि "भूंडा" अर्थात् 'यज्ञ में दी जाने वाली बलि' कहलाने लगी । कालान्तर में इस बलि प्रधान यज्ञ का नाम ही 'भूंडा' कहलाने लगा । अनेक भिन्नताओं के कारण यह शांत से पृथक था । सभ्यता की प्रगतिशीलता के कारण नरबलि के स्थान पर पशु वलि का चलन प्रारम्भ हुआ लेकिन यज्ञ का नाम नहीं बदला । हां, इस यज्ञ ने त्यौहार का कुछ रूप अवश्य अपना लिया । ज़िला शिमला में इस यज्ञ स्वरूप त्यौहार के दो रूप पाये जाते हैं । दोनों में विशेष भिन्नता के साथ-साथ बलि द्वारा देवताओं को सामूहिक रूप से सन्तुष्ट करने के कारण उद्देश्य में पूर्ण समानता झलकती है ।

इसका पहला रूप वह है जिसमें 'भूंडे' में नर बलि दी जाती थी । किसी विशेष घराने के आदमी को, जो बलि के लिये निश्चित होता था, भूंडा दिये जाने वाले गांव में काफी समय पूर्व से मन वांच्छित वस्त्र, भोजनादि से पाला जाता था, मानों उसकी जीवन भर की इच्छायें पूर्ण की जाती थीं । वह आदमी अपने लिये काल का पहिया भूंजी (घास) का रस्सा गाय के शुद्ध घी के साथ भिगो कर तैयार करता था । समय आने पर गांव के सब लोग उस रस्से को पानी पिलाते (भिगोते) थे । तदुपरांत वह रस्सा किसी ऊंचे स्थान

1. कुलूत देश की कहानी—लाल चन्द प्रार्थी ।
2. किन्नर लोक साहित्य—डा0 बंशी राम शर्मा ।
3. धार्मिक सन्दर्भ (सोमसी जुलाई 1977) कलावती जसटा ।

पर बांध कर दूसरे सिरे से ढांक के नीचे काफ़ी दूर बांधा जाता था । उस भूंडे के लिये पालित आदमी को काठ की घोड़ी पर बिठा कर दोनों पैरों में रेत की बराबर थैलियां बांधकर बलिवेदी के लिये तैयार किया जाता था । तदुपरांत घोड़ी रस्से पर बिठा कर उस व्यक्ति के दोनों हाथों में लाल रूमाल दिये जाते थे । संतुलन बनाये रखने के लिये रेत तथा अन्न, रक्षा के लिये घोड़ी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उदाहरण नहीं तो क्या हैं ? दोनों हाथों में रूमाल जहां देवता के ध्वज के सूचक थे वहां फैले हाथ सन्तुलन में भी सहायक हो सकते हैं। अब तैयार हो गई बलि की सवारी, जिसे 'बेड़ा' कहा जाता रहा है । सचमुच बेड़ा ही तो होता था, जिसके साथ एक मनुष्य का जीवन रूपी बेड़ा भी लगभग संसार से पार होना होता था । आखिर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देवता से बलि को बचाने का प्रयत्न तो भरसक किया जाता था । बात इतनी थी कि साफ इन्कार नहीं किया जा सकता था, यही तो परम्परागत देव पूजा कहलाती आई है ।

वह बेड़ा जब रस्से पर यात्रा के लिये तैयार कर दिया जाता था तो पीछे एक डोरी से बन्धा होता था । उस डोरी के पास एक बकरा या खड्डू खड़ा होता था । अब उस पशु की गर्दन पर किये गये प्रहार से उसकी गर्दन के साथ-साथ वह डोरी भी कट जाती थी । परिणामस्वरूप इधर पशु का सिर धड़ से पृथक होता था, उधर बेड़ा रस्से पर आगे बढ़ता था । अब उस बलि (भूंडे) के आदमी के जीवन का बेड़ा पार होता है या रस्से पर बेड़ा पार (नीचे लक्ष्य तक) होता है; इस क्षणिक प्रतीक्षा में असंख्य लोगों सहित नीचे उस भूंडे के आदमी के परिवार के सदस्य भी उपस्थित होते थे । यदि वह आदमी बच जाता तो पास खड़ी भीड़ से वह चाहे वस्त्र व आभूषणादि ले सकता था । लोग प्रसन्नता से परम्परा का पालन करते । यह मन चाहा पुरस्कार ही तो था । कई बार बच भी जाता था लेकिन बहुधा भूंडे का आदमी संसार से विदाई को ही प्राप्त होता था । इस प्रकार नर बलि का यह विशेष तरीका था ।

समयानुसार अब लोगों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण में यह भी जोड़ दिया कि शेष अभिनय वैसा ही किया जाये, केवल अभिनेता आदमी के स्थान पर अजापुत्र रखा जाये । इस प्रकार यह भी पशुबलि प्रधान यज्ञ बन गया; साथ ही यह त्यौहार के रूप में भी परिवर्तित होता गया । इस प्रकार का भूंडा पूर्वोक्त उन्हीं स्थानों में होता है जहां पहले नर बलि दी जाती थी ।

भूंडे का दूसरा रूप घूण्ड, कलाहर, साम्बर, पटलौत (ठियोग तहसील) तथा बेभ्रोन, बागी इत्यादि (कोटखाई तहसील) में होता आया है । इन स्थानों में प्राचीन काल से ही पशुबलि देकर देवी देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता रहा है । लेकिन नर बलि यहां कभी नहीं दी गई । पूर्वकथित बेड़ा डालने की प्रथा रही है । यहां कुछ वर्ष पूर्व से भूंडे के बकरे व खड्डू पाले जाते हैं, जिन्हें बन्धी कहते हैं । बन्धी का तात्पर्य 'बलि हेतु सुरक्षित होता है, उन्हें बेचा भी नहीं जा सकता । भूंडे के दिन इन निरीह पशुओं को देवस्थानों में ले जाकर, पानी से भिगोकर थरथर्राने योग्य बनाया जाता है । इस क्रिया को 'चुलू डालना' तथा थरथर्राने को 'बुणना' कहते हैं । तदुपरांत सारे इलाके से एक ही देव स्थान में एकत्रित सैकड़ों पशुओं की भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने पशु की गर्दन धड़ से पृथक करवाने के लिये अपने-अपने सम्बन्धो (साऊ) को पुकारता है । तब सब के सम्बन्धी अपना-अपना शस्त्र (तलवार, दराट, खोखरी या डांगरा) लेकर आगे बढ़ते हैं तथा प्रहार (डांगरे) के लिये सम्मानपूर्वक दिये गये पशुओं को स्वीकार करते हुए उन्हें तलवार के घाट उतारना प्रारम्भ कर देते हैं । जो प्रहारक (डंगराई) एक ही प्रहार से सिर को धड़ से पृथक कर देता है, वह प्रशंसा का पात्र बन जाता है। असफल रहने वाले को रक्त से लथपथ कर दिया जाता है । यह बात स्मरणीय है कि भूंडे में सम्बन्धियों के साथ बदले का व्यवहार किया जाता है, अतः भूंडा बदले (साटे) का यज्ञ स्वरूप त्यौहार माना जाता है । जिस सम्बन्धी ने अपने घर हुए भूंडे में जो पशु कटवाया होता है, वही उसे काटने (डांगरे) को दिया

जाता है। हर सेवा बदलाव की भावना से की जाती है यहां तक कथन प्रसिद्ध है कि भूंडे में पानी भी बदले का पिलाया जाता है ।

इस यज्ञ-स्वरूप त्यौहार में देव स्थानों पर देवी-देवताओं का विधिवत पूजन होता है । अनेक स्थानों पर मन्दिरों की शिखा पर लगे लक्कड़ (कुरड) पर बैठ कर पुजारी दणारे (पूजा पात्र) में अग्नि लेकर उसमें धूपादि द्रव्य पदार्थ डालकर मन्त्रोच्चारण द्वारा आवाह्न के साथ चारों दिशाओं से आ रहे देवताओं का पूजन करता है। उसी छत पर साथ बैठा होता है—देवा या माली जो देवता की वाणी बोलता है । साथ ही आ रहे देवी-देवताओं के स्वागत में एक व्यक्ति आटे (पातल) को हवा में बिखेरता जाता है । उसी छत पर एक बकरा भी कटने को तैयार होता है । जब सब देवता आने लगते हैं तो वह देवा शिखर पर चीख देता हुआ, अपनी जटायें (चूड़ा) बिखेरता खड़ा होकर नृत्य सा करता है । मानों बाहर से आये देवी-देवताओं के स्वागत की प्रसन्नता में फूला न समा रहा हो । इसके साथ ही बकरा भी काट दिया जाता है । तदुपरांत मन्दिर के नीचे असंख्य बकरे काटे जाते हैं । मन्दिर के शिखर पर किये जाने वाले इस पूजन को शीख पूजा (शिखा पूजन) कहा जाता है। इस समय गांव के सारे घरों के छत व अन्य स्थान हजारों दर्शकों से भरे रहते हैं।

इस अवसर पर दूर-दूर से सम्बन्धियों को आमन्त्रित करके तीन दिनों तक सीड़ू, पटांडे व घी—शक्कर आदि से उनकी जिह्वा की तृष्णा को तृप्ति में बदल दिया जाता है। परिणामस्वरूप अनेक बहुभोजियों को औषधालय के प्राङ्गणों तक भी पहुंचना पड़ जाता है । निर्धनों को भले ही ज़मीन तक बेचनी पड़े पर भूंडा अवश्य करना होता है, अन्यथा वे समाज व देवता द्वारा ठुकरा दिये जाते हैं । इसी के फलस्वरूप बेचारे किसी मोती राम नामक व्यक्ति पर "भूंडो न देइयो मोती राम" ऐसा लोक गीत ही प्रचलित हो गया ।

इस भूंडे के तीन दिनों में लोग सामूहिक नृत्य, गीतादि द्वारा मनोरंजन भी करते हैं । मदिरा की मस्ती के मतवालों के घर मदिरापान भी कसर नहीं छोड़ता । इस प्रकार प्राचीन अनार्य संस्कृति का संकेत-स्वरूप यह भूंडा ज़िला शिमला के भिन्न-भिन्न स्थानों में आंशिक भिन्नता लिये यज्ञ-त्यौहार के रूप में सम्पन्न किया जाता रहा है ।

सम्भवतः अब यह स्पष्ट करने की आवश्यकता न होगी कि निर्मण्ड में परशु राम द्वारा किया जाने वाला नरमेध यज्ञस्वरूप भूंडा ही भूण्डा प्रथा का प्रारम्भ न था । क्योंकि जब अनेक स्थानों पर प्रारम्भ से ही पशुबलि की प्रथा रही हो तो नरमेध से भूण्डे के आरम्भ का विशेष सम्बन्ध नहीं लगता । हां, नरबलि (नरमेध प्रधान भूंडा) भूंडे का एक प्रकार अवश्य हो सकता है । वास्तव में भूंडा अनार्य संस्कृति का एक ऐसा अवशेष रूप है जिसे हिंसा प्रिय देवी-देवताओं का यज्ञ कहा जा सकता है। इस में देवी-देवताओं की इच्छा व देशाचारानुसार कोई भी बलि दी जा सकती है; कहीं पर पहले नरबलि दी जाती थी, बाद में पशुबलि आरम्भ कर दी गई । लेकिन कुछ स्थानों पर नरबलि के संकेत मात्र भी प्राप्त नहीं होते । वहां प्रारम्भ से ही पशु बलि देते आये हैं । अतः यह बलि प्रधान यज्ञ था; जो कालांतर में पशुबलि प्रधान यज्ञ-त्यौहार कहा जाने योग्य बन गया है ।

भातिः—यह शब्द भी भूंडे अथवा बलि से ही बिगड़ कर बना प्रतीत होता है । इसके साथ ही इसकी आयोजन विधि भी दूसरी प्रकार के भूंडे के समान ही है । केवल अन्तर इतना है कि इसके अन्तर्गत शीखपूजा (शिखी पूजन) नहीं होता, मन्दिर के भीतर ही पूजन किया जाता है।

इस अवसर पर भी सम्बन्धियों की तीन दिनों तक भूंडे की भांति सेवा की जाती है। असंख्य बकरे व खड्डू काटे जाते हैं। भाति भूंडे से भी बढ़ कर एक त्यौहार अग्रसर होती जा रही है; फ़िर भी इसे यज्ञ-परम्परा से पृथक नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार की यज्ञ-त्यौहार स्वरूप प्रधान 'भाति' का बलसन में देवठी, धार, कडारन, चांदनी व पड़ेगेया इत्यादि गांवों में विशेष रूप से प्रचलन चल रहा है। प्रत्येक गांव की हर चौथे वर्ष भाति देने की बारी आती है। इस अवसर पर मूंजरा, नाटी इत्यादि सामुहिक नृत्य-गीतों द्वारा लोग मनोरंजन भी करते हैं। झूरी विशेष रूप से आशु लोक-कवियों की प्रश्नोत्तर रूपी गोष्ठी के रूप में गायी जाती है।

बलटी:—एक छोटे बलि प्रधान यज्ञ-त्यौहार के रूप में बलटी का आयोजन बेओन, धार, कलींड इत्यादि गांवों में किया जाता रहा है। बलटी नाम से ही बलि प्रधान लघु यज्ञ का बोध हो जाता है। बलटी दो प्रकार की होती है—एक छोटी बलटी जिसे तीसरे वर्ष तथा दूसरी बड़ी बलटी जिसे पांचवें या सातवें वर्ष दिया जाता है। छोटी बलटी में लोग सामुहिक रूप से कुछ पशुओं को बलि देकर ही देवी देवताओं का पूजन कर लेते हैं; लेकिन बड़ी बलटी में बिधिवत् शीख पूजा (शिखा पूजन) सहित लोग पृथक पृथक बलियां देते हैं। इस अवसर पर सम्बन्धियों को भी आमंत्रित किया जाता है परन्तु दूसरे ही दिन बिदा कर दिया जाता है। यह भूंडे व भाति से निम्न स्तर का यज्ञ-त्यौहार कहा जा सकता है।

नृत्य-गीतादि के अनेक सांस्कृतिक आयोजन होते हैं, जिनमें माला नृत्य (रैली) विशेष प्रमुख है। महिलायें व पुरुष एक ही पंक्ति बनाकर माला बन कर नृत्य करते हैं। यह अवसर नायक-नायिकाओं के मिलन के लिये भी विशेष प्रसिद्ध रहा है। एक लोक गीत में एक नायिका निज प्रियवर नायक लच्छू को मिलन-पिपासा युक्त होकर धार की बलटी में आने का संदेशा यों देती है—"धारौ री बलटी लागे पाणी बरूरी, आरा लच्छुआ लागे पाणी बरूरी। धारौ री बलटी आया चेंही जरूरी, आरा लच्छूआ आया चेंही जरूरों।।" अर्थात् धार की बलटी को मन्द-मन्द वर्षा होती है, क्या ही सुहावना मौसम होता है! अतः मेरे प्यारे लच्छू! धार की बलटी को जरूर आना। इस प्रकार बलटी यज्ञाधारित हो कर भी त्यौहार-विशेष बनती जा रही है।

3. पशु बलि परम्पराओं में कुछ त्यौहार स्वरूप प्रधान भी हैं। इन्हें मांस-भक्षण त्यौहार कहा जाये तो अनुचित न होगा। शीत खण्ड होने के नाते मांस यहां का विशेष भोजन रहा है। विशेष रूप से शीत काल में ये त्यौहार पहाड़ों में किसी न किसी रूप में होते ही हैं। इनमें जो पशु काटे जाते हैं उनकी बलि विधिवत् चूलू (पानी) डालकर दी जाती है लेकिन उद्देश्य मांस भक्षण ही होता है। शीतकाल प्रारम्भ होते ही ये त्यौहार भी प्रारम्भ हो जाते हैं। इनमें निम्न प्रसिद्ध हैं:—

त्यौर—यह शब्द त्यौहार का ही पहाड़ी पर्याय है। इसका प्रचलन चौपाल के अनेक खण्डों में है। इस अवसर पर बकरे व खाड्डू काटे जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मेहमानों को मांस खिलाने के लिये महमानियां करता है जो त्यौर कहलाती हैं। सीडू, घी इत्यादि भी खिलाया जाता है। ये प्रति वर्ष मनाये जाते हैं। त्यौर में सम्बन्धियों को बुला कर सभी मिलकर मांस भक्षण करते हैं।

बकरीत:—यह शब्द भले ही मुस्लिम सभ्यता की ओर ध्यान ले जाता है, लेकिन ऐसा इसलिए नहीं है कि शील शब्द मौसम या रिवाज़ के लिए पहाड़ी में प्रयोग होता है। इसी के कारण बकरीत का अभिप्राय भी बकरे काटने का मौसम या रिवाज हो जाता है। वास्तव में इसका अर्थ यहीं तक सीमित है।

यह कोटखाई, रोहड़ू व जुब्बल के कुछ भागों में प्रचलित है। यह चौपाल के त्यौर का ही दूसरा रूप है। केवल नाम में अन्तर है। बकरे व खड्डु काटे जाते हैं। खूब मांस खाया जाता है। इनकी आंतों में इन्हीं का रक्त व आटा इत्यादि मिलाकर उन्हें पानी में पका कर खाया जाता है। मांस को सुखा कर कई दिनों तक रखा जाता है। सम्बन्धियों को भी मेहमानी में बुलाया जाता है। यह शीतकालीन त्यौहार ही है।

गोठ:—यह त्यौहार भी मांस भक्षण प्रधान है, जिसे प्रतिवर्ष शीत काल में मनाया जाता है। यह बकरीत या त्यौहार का ही रूप है। इसे धून्द, बलसन, ठियोग व कुमारसैन के अनेक गांवों में मनाया जाता है। यह शब्द 'गोष्त' शब्द से बिगड़ कर बना है, इसे अंग्रेज़ी शब्द (Goat) का रूपान्तर भी बता सकते हैं। यों तो जब भी गांव में लोग मांस-भक्षण के उद्देश्य से बकरे या खाड्डू को काटते हैं, उसे भी गोठ कहते हैं, लेकिन शीतकाल की गोठ त्यौहार बन जाती है। इसमें भी मांस-भक्षण का प्रचलन खूब रहता है। आंतों में लहू भर कर पकाया जाता है जिसे लवांदरी (लहू की बनी) कहते हैं। चर्बी डाल कर नर्म-नर्म सीडू तथा गर्म-गर्म खोवले या बौंसे विशेष रूप से बनाए जाते हैं।

4. इन सब पशु-बलि परम्पराओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी परम्पराएं हैं जो यदा कदा देखने को मिलती हैं, लेकिन यहां के सामाजिक जीवन से विशेष रूप से जुड़ी हैं। इनमें निम्न प्रसिद्ध हैं:—

निरवाह:—यह शब्द 'निवारण' का पहाड़ी पर्याय ही है। जब कहीं भूत-प्रेतादि का निवारण करना होता है तो खड्डू इत्यादि को लेकर दूर पूज कर ले जाते हैं। तथा उस बलि में दिये गए पशु को वहीं काटा, पकाया व खाया जाता है। कई स्थानों पर इसे 'बाइठा' भी कहा जाता है। दूर से आए किसी देवता को भी इस तरह निकाला जा सकता है, यदि वह अपमानजनक विदाई योग्य हो। इसमें मानों उस लगे हुए देवता या भूतादि को उस बलि में दिये जा रहे पशु के साथ ही दूर किसी निर्जन स्थान में पहुंचाया जाता है। यह बलि उस आदमी के बदले दी जाती है, जिसकी जान तक लेने को वह भूतादि फंसा होता है। उस हिंसक को 'लागो भागो' अर्थात् किसी द्वारा लगाया गया या स्वयं भटक कर लगा भूतादि कहते हैं। ऐसे हिंसकों को निकालने में इष्ट देवी देवता भी सहायक होते हैं। लेकिन फिर वे बलि को पारिश्रमिक के रूप में स्वयं ही ले लेते हैं।

मूंडरोला:– इस शब्द से 'सिर पर घुमाया हुआ' यह भाव प्रकट होता है; क्योंकि पहाड़ी में मूंड सिर को तथा 'रोला' शब्द घुमाना क्रिया का अर्थ बोधक है। अतः शब्दार्थ के समान ही 'मूंडरोला' उस बलि को कहते हैं जो किसी देवता सम्बन्धी प्रकोप से प्रभावित व्यक्ति के सिर के ऊपर से पशु घुमाकर दी जाए। उस व्यक्ति के सिर के ऊपर से पशु घुमाने की क्रिया को 'रगैवगणा' भी कहते हैं। घूमने के बाद वह खड्डू या बकरा काट दिया जाता है, मानो जिसके प्रकोप से वह व्यक्ति प्रभावित था उसे पशु दे दिया गया। आखिर मनुष्य अपनी चालाकी व पशु का पशुत्व सार्थक बनाने में नहीं चूकता है।

जब बारात वापस आती है तो दुल्हा व दुल्हन दोनों की पालकियों के ऊपर से भी पशु घुमाकर मूंडरोला दिया जाता रहा है। जब किसी देवता का नया देवा, माली या चेला (देव-वाणी वक्ता) निश्चित करना होता है तो भी उस पर मूंडरोला दिया जाना जरूरी समझा जाता रहा है। ऐसे ही कई मूंडरोले हैं, जिनसे मनुष्यों का मूंड बचाते-बचाते पशु का मूंड लग ही जाता है। पशुओं के मूंड (सिर) इन मूंडरोलों (बलियों) के लिये ही तो लगे हैं, यह धारणा समाज में स्थान बनाए बैठी है।

शुद्धि:—अनेक प्रकार की अपवित्रता को पवित्रता में परिवर्तित करने के लिए भी पशुबलि की प्रथा रही है, इसे शुद्धि कहते हैं। रजस्वला, हरिजनादि संसर्ग में अशुद्ध हुए समझे जाने वाले देव-स्थानों की शुद्धि

भी बलि द्वारा की जाती रही है। जब नया मकान बन कर तैयार होता है तो उसे 'पशुबलि' द्वारा शुद्ध किया जाता रहा है। यहां तक कि जब आदमी की मृत्यु होती थी तो उसी वक्त मुर्दे के पीछे पशु-बलि दे कर शुद्धि की जाती थी, मानों मृत के सहचर के रूप में पशु को भेजना आवश्यक हो। इस प्रथा को कई स्थानों पर 'बक्षेरना' भी कहते हैं लेकिन कालान्तर में यह शुद्धि तीसरे, पांचवें, सातवें के क्रम को लांघते हुए मृत्यु के ग्याहरवें तक किये जाने तक पहुंची। इस प्रकार अब इसका अन्त होते हुए भी यह राजघरानों में कहीं कहीं प्रचलित है। अब ग्यारहवें दिन क्रिया-कर्म संग हलुए से शुद्धि की जाती है। ऐसी अनेक शुद्धियां हैं जो केवल बुद्धि की शुद्धि करके विवेक को जन्म नहीं लेने देतीं, बकरे या खड्डू को मृत्यु अवश्य देती है।

इन सब पशु-बलि परम्पराओं के अतिरिक्त प्रथम गौ प्रसव, प्रथम पुत्रोत्पत्ति तथा अनेक अपशकुनादि के उपलक्ष्य में भी बलि देने की प्रथा रही है। खेत में प्राकृतिक गढ़ा (ओगल या ओल्) बनने तथा जोतते हुए हल में सर्प फंसने पर भी बलि दी जाती है। लोग फसल में 'दु सिला' (दो बालियां) लगने इत्यादि पर भी बलि देने से न चूकते थे।

—ग्राम मान्दल, डा0 घुण्ड,
तह0 ठियोग, जिला शिमला,
हिमाचल प्रदेश।

अज्ञान तिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानांजन शलाकाभिर्नेत्रोन्मीलन कारकम्॥
—महाभारत, आ0प0 1, 84,

"विद्या के सिवाय और कोई श्रेष्ठ दान नहीं है"।
—फुलर

बिलासपुर का राजकवि—सुखदेव सामुद्रिक

—डा0 श्रीकांत प्रत्यूष गुलेरी

बिलासपुर हिमाचल प्रदेश की वह पहाड़ी रियासत है जिसका बहुचर्चित प्राचीन नाम कहलूर है। इसी कहलूर रियासत के राजकवि सुखदेव सामुद्रिक का रीतिकालीन हिन्दी साहित्य को अभूतपूर्व योगदान रहा है। दुःख का विषय है कि सुखदेव कवि का भी गुलेर के राजकवि उत्तम, रुद्र और वृजराज प्रभृति विद्वानों की भांति नागरी प्रचारिणी आदि सभाओं द्वारा कोई नोटिस तक नहीं लिया जा सका। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सुखदेव कविराज बलिभद्र के पुत्र थे और कहलूर के राजा भीम चन्द के यहां आश्रित थे। कवि ने स्वयं अपनी कृति नृपनीत में यों रहस्योद्घाटन किया है:

बलि भद्र कवि राज सुत जन 'सुखदेव' सुनाम।
बसे जु भीम नरेस छिति जिह कीनो ग्रन्थ गुन ग्राम॥[1]

अपने निवास स्थान के बारे में कवि ने 'सामुद्रिक सूत्र' में स्वयं को रूप ग्राम का वासी बतलाया है। यह रूप ग्राम मेरे विचार में तो सुन्दरनगर हो सकता है, कवि ने चमत्कार प्रदर्शन के मोह में रूप ग्राम लिखा है। उक्त छन्द द्रष्टव्य है—

रूप ग्राम सुभ सोभिजे श्री भीम चन्द के रासु।
तहां बसत 'सुखदेव' जन जिह कीन्हों ग्रंथ प्रकासु।[2]

कवि के जीवन से सम्बन्धित उपर्युक्त जानकारी से अधिक कोई विशेष पता नहीं चल सका। सुखदेव के अपने नाम के साथ 'सामुद्रिक' उपनाम परम्परा मोह से अवश्य सटा लिया है। काव्य रचना में उन्होंने दोनों ही नामों का कवि छाप के रूप में प्रयोग किया है। अब तक अन्वेषित सुखदेव कवि की दो कृतियों का ही पता चल पाया है। वे हैं— (1) सामुद्रिक सूत्र और (2) नृपनीत। ये दोनों जय कृष्ण आत्मज धैर्य्य नामक पांडेय द्वारा प्रतिलिपित हैं।

(1) सामुद्रिक सूत्र

'सामुद्रिक सूत्र' पांडुलिपि के कुल पृष्ठ चवालीस हैं। एक पृष्ठ पर पंक्तियों की संख्या नौ और प्रत्येक पंक्ति अठारह अक्षरों की है। कृति की छन्द संख्या अठत्तर है।

---

(1) दे0—नृपनीत, छन्द—3

(2) दे0—सामुद्रिक सूत्र, छन्द—35

कृति के प्रथम भाग में पुरुष लक्षण हैं तो दूसरे में स्त्री लक्षण। पुरुष लक्षण के बाद पुष्पिका का अंश पठनीय है—'इति श्री सामुद्रिक सूत्रे पुरुष लक्षन समाप्त।' 'अर्थ स्त्री लक्षनं', पांडुलिपि का प्रथम पृष्ठ खंडित है। स्त्री लक्षण का प्रथम दोहा इस प्रकार है :—

गर्भ वास लिख गये विधना कछू अंकूर।
सो सब कहों जु प्रकटि करि अंक चिह्न ते पूर ।।[1]

और अन्तिम—

अधम मधम तिय हीन है तिय उत्तम सुखकारी।
सुखदेव 'समुद्रिक' यों कहे चतुर वियाहि विचारी ।।
रूप ग्राम सुभ सोभिजे श्री भीम चन्द के रासु।
तहां बसत 'सुखदेव' जन जिह कीन्हों ग्रंथ प्रकासु ।।[2]

प्रतिलिपिकार की पुष्पिका से निम्नांश उद्धृत करने योग्य है :—

"श्री ।। श्री।। श्री राम ।। राम।। राम।। राम।। राम।। या दृशं पुस्तकं दृष्टवा तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धम अशुद्धं वाम दोष न दीयते। लिखित मिदं पुस्तकं पांडेय श्री जय कृष्णात्मज धैर्य्यं ।" प्रतिलिपिकार ने पांडुलिपि का समय नहीं दिया। संभवतः कवि ने ग्रंथ के आरम्भ में कोई रचनाबोधक छन्द दिया हो, परन्तु वह पृष्ठ अनुपलब्ध है। वाह्य साक्ष्य के आधार पर भीम चन्द गुलेर नरेश राज सिंह के समकालीन थे। भीम चन्द और राज सिंह तुर्कों के विरुद्ध मिल कर लड़े हैं। दोनों नरेशों के घनिष्ठ सम्बन्ध होने के अनेकों प्रमाण मिले हैं। गुलेर के राज कवि उत्तम ने अपनी कृति 'दिलीप रंजनी' में राज सिंह उपाख्यान के अन्तर्गत भीम चन्द की अतुल शूरवीरता का गुणगान किया है। भीम चन्द ने मंडी नरेश गौरसेन के साथ संयुक्त प्रस्ताव राज सिंह के प्रति यों रखा है—

भीम चन्द कहलूरिआ गौरसेन मंडियाल।
राज सिंह महिपाल को लिखि भेज्यो महिपाल ।।
मंडी और कहलूर को देस होत तुरकान।
राज सिंह अब तूं जो राखें रहें मुलुक हिंदुआन ।।[3]

राज सिंह का गुलेर पर शासनकाल सम्वत् 1719–33 वि० है।[4] अतः भीम चन्द कहलूरिया गुलेर नरेश राज सिंह के समकालीन थे। सुखदेव ने स्वयं को भीम चन्द का राजाश्रित कवि कहा है। इस आधार पर सुखदेव 'सामुद्रिक' के 'सामुद्रिक सूत्र' का रचनाकाल भी सं० 1917 से लेकर 1733 वि० के मध्य अथवा दस बीस वर्ष बाद किसी भी समय संभव हो सकता है। रचना की प्रामाणिकता पर तो किसी को संदेह करने की

(1) दृष्टव्य—सामुद्रिक सूत्र, स्त्री लक्षण, छन्द –2
(2) „ —सामुद्रिक सूत्र, स्त्री लक्षण, छन्द—34
(3) „ —कवि उत्तम कृत दिलीप रंजनी, दशम उल्लास, छन्द—42
(4) दे० गुलेर नृप वंशावली (प्राचीन हस्त लिखित)।

गुंजायश नहीं रहती। कारण यह कि कवि ने कवि छाप में सामुद्रिक अथवा सुखदेव नाम का प्रयोग सर्वत्र किया है।[1] इस कृति में रचनाकार ने छन्द प्रयोग की दृष्टि से विविधता का परिचय दिया है। प्राथमिकता भुजंग प्रयात, निसिपालिका, स्वागता, हाकलि, त्रिभंगी, मलिका, सुप्रिया, चामर, दोहरा, दंडक और तोमर आदि छन्दों को प्रदान की की गई है।

नृपनीत :

'नृपनीत' पांडुलिपि के कुल पृष्ठ 120 हैं। इस रचना का पृष्ठाकार 7" × 4" है। नौ पंक्तियों के प्रत्येक पृष्ठ पर एक पंक्ति अनुमानतः अठारह अक्षरों की है। छन्दों की कुल संख्या 187 है। इस कृति के प्रतिलिपिकार भी पांडेय धैर्य्य ही हैं। यह पांडुलिपि स्वयं में सर्वांगपूर्ण है। पांडुलिपि के आरम्भिक छन्द इस प्रकार हैं—

दोहरा प्रथम नमो गनेस को बहुरि सारदा माइ।
जा के दरसन परतहि अघ ऊलक लपत जाइ ।।

बलिभद्र कविराज सुत जन सुखदेव सुनाम।
बसे जु भीम नरेस छिति जिह कियो ग्रंथ गुन ग्राम ।।[2]

इस कृति का वर्ण्य विषय राजा को राजनीति की शिक्षा प्रदान करना है। इसमें पंचतन्त्र की कुछ गणमान्य कथाओं को कवित्व शैली में सुन्दर एवं सजीव ढंग से प्रस्तुत किया गया है जो राजनीति के लिए लाभप्रद एवं प्रेरणादायक हैं। कथा प्रसंग से पूर्व कवि ने अपना आशय स्पष्ट करते हुए कहा है–

गर्व निवारन अरिन के मित्रन को सुखदैन।
बुद्धि बल बचन विवेकमय सुनत लगे चित चैन ।।

मंत्र कुमंत्र अग्यानता ज्ञान अभय भय रीत।
लोभ छोभ छल बल सहित कैह देंउं नृपनीत ।।[3]

इस कृति का रचनाकाल भी वाह्य साक्ष्य के आधार पर सामुद्रिक सूत्र के बाद का ही निश्चित किया जा सकता है क्योंकि यह रचना 'सामुद्रिक सूत्र' के बाद के पृष्ठों के साथ ही संलग्न है। रचना की प्रामाणिकता के लिए कवि नाम की छाप यहां भी उपलब्ध है। छन्द उदाहरणस्वरूप दिया जा रहा है—

भीर परी ते परखिये जो कोऊ मीत अमीत।
जन 'सुखदेव' बरबानहि सांची यह नृपनीत ।।[4]

(1) अधम मध्य तिय हीन है, तिय उत्तम सुखकारी।
'सुखदेव सामुद्रिक' यों कहे चतुर वियाहि विचारी ।।
(सामुद्रिक सूत्र, छन्द 34)।
(2) देखिए—नृपनीत छन्द 1 व 3।
(3) दे०—नृपनीत, छन्द – 5
(4) दे०– नृपनीत, छन्द –17

ग्रंथ की कथा नवम् छन्द से यों आरम्भ की गई है—

दक्षिन दिसा नगर इक कोई। पाटलीपुत्र नाम जिहि होई ।।
अमर शक्ति नृप ता पर पति । सर्व सास्त्र को जानें अति ।।
चतुर महामति परजा पालक। अरिदल सकल विकलता घालक ।।
ताकें तीन पुत्र दुरबुद्धि । जां को नहीं धरम की सुद्धि ।। [1]

सिंह खरगोश की कथा का यह काव्यांश भी पठनीय है—

बुद्धि बल विक्रम क्या नहीं करे। ज्यों छलि सास सिंह बल हरे ।।
ईसी भांति बीते दिन भारी। इक दिन आई ससा की वारी ।।
ससा कूदि कैं चल्यो उद्याना। जाय चुतुर्थे पहुंच्यो थाना ।।
ससा देखि सिंह दुख पावा। वेला बीती भक्ष लघु आवा ।।
वेग ससा बूझयो मृग राई। इती बार तें कहां लगाई ।।
सुनो भूप मृग पति मृग राजा। आयो मोहि प्रात तुव काजा ।।
इह वन और सिंहि इक आवा । तिह हौं आज पंथ अटकावा ।। [2]

उपर्युक्त कृति में दोहा, चौपाई और मालती छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों कृतियां गुलेर राज्य की टीका रानी श्रीमती उत्तमी देवी जी के निजी संग्रहालय से उपलब्ध हुई हैं। हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं कि भीम चन्द कहलूरिया और राज सिंह गुलेरिया के घनिष्ठ सम्बन्ध थे, अतएव इसी कारण सुखदेव सामुद्रिक की कृतियों का आदान प्रदान हुआ है। आज आवश्यकता है कि हिमाचल प्रदेश की प्राचीन रियासतों में रचे गए हिन्दी साहित्य का व्यापक अन्वेषण किया जाय, ताकि पता चले कि हिमाचल प्रदेश का हिन्दी साहित्य के विकास में कितना योगदान रहा है। भाषा-विभाग हिमाचल प्रदेश को भी चाहिए कि ऐसी मूल्यवान कृतियों को अपने अधिकार क्षेत्र में लेकर उनके सम्पादन और प्रकाशन की व्यवस्था करे।

---

(1) दे० – नृपनीत, छन्द –9
(2) दे० – नृपनीत, छन्द –80

—कीर्ति भवन गुलेर,
जिला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)।

STUDIES IN THE SYSTEMATICS OF HIMACHALI LINGUISTICS

—Dr. Siddheshwar Varma

I. **Introductory :**

The masterly book of Shri M. R. Thakur is a thrill of my existence, as its presentation is remarkably scientific. But as the English proverb would have it, "the road to hell is paved with good intentions". This book,, actually, has "Sweet-bitter" aspects. Its bitter aspects are its primitive presentation which the author could, by himself, now easily correct.

II. **Aryan not the Original language of India:** Now it is well known even to a beginner in the Study of Indian Linguistics, that Indo-Aryan was not the original language of India. Consequently the remark in the very first paragraph of the book on page 9 that "आर्यलोग अपने साथ लाए" has to be thoroughly recast. Although the next two paragraphs of the book definitely express the coexistence of other languages in the country, the superimpostion Concept of motivation has unfortunately observed the presentation with, Indo Aryan domination.

III. Ultra-historic presentation to be recast:

The Second paragraph of page 10 exaggerates the importance of old phenomena as being the persistently continuous grounds of later languages. This paragraph deplorably ignores the fact that every language undergoes spontaneously some change in the sense of "replacement" from time to time, as it has been said: "to cease to change, is to cease to live." This feature of language, however, is very challenging to a real thinker, in view of the difficulty of ascertaining the processive stages through which the transformations have been evolved.

IV. Suggestion to face a challenging problem: Something like the methods of Soviet, who have organised Committees for every linguistic and cultural topic, I Suggest that a committee may be organised to face this problem. One of the members, if desired could be suggested by me immediately without any hesitation whatsoever. He is a marvellously gifted Observer of human language, besides himself being a पहाड़ी speaker hailing from Kumaun. He is Dr. D.D. Sharma, Reader in Sanskrit, Punjab University, Chandigarh.

2

1. **Objectionable generalization:** On p. 11, para 1, mere generalizations, without even a Single example, have been profusely used, as "अनार्य जातियों के गुणों का समावेश" by Aryans. "One generalization, one thousand examples"-So my master, Professor D. Jones used to say 52 years ago, in London.

II. Colossal blunder in historical Statement: In the last para, it is stated that the ऋग्वेद acknowledged to be "संसार की सबसे प्राचीन रचना", It is shocking indeed when the antiquities of Babylon and Elam have been already known long long before the Rgveda, many years before this book was written.

3

I. Generalization and platitures: It is a pity that on page 11, para 1, Such a masterly book should indulge in mere generalizations and platitudes.

Without a single example; while my master, Professor Daniel Jones, used to Say, 52 years ago in London:

"One generalization, one thousand examples".

Thus on the topic about the evolution of Aryan language and culture, it is stated on page 11, para 1, lines 7-8 only generally in the form of "आदान प्रदान के आधार पर व्यवस्था ···" without even a Single example. I recommend that the planning committee, which is likely to take up a Second edition of this book, may give here examples like the following:—

1. अक्का "Sister", both in Sanskrit and Prakrit:—
   This word is definitely Dravidian, Cf. Turner no. 16, where Tamil akkai, "elder Sister" has been illustrated.

2. Sanskrit akoa—blue vitriol-Copper sulphate-नीला थोथा, connected with Iranian, Cf. Avestan axs-aema—dark coloured, Dardic Khowar (Spoken in chitral) och-dark grey.

II. Processive extension of Aryan: Very valuable, indeed, is para 2 of page 11, in which the processive nature of Aryan, in every form, has been most explicitly emphasised in lines 9-10 "अवश्य हो यह क्रमिक रूप में" It will be a task to illustrate this point with a view to correspond to the actual level of the readers. For we shall have to presume here that he knows फलानि as a Sanskirt word for "fruits".

Now experts in Indo Iranian tell us that the original form in Rigveda, in earlier Statges of this verb, was only फला; नि was added later.

—**35-B Defence Colony,**
New Delhi-24.

"Much of the anthropological material Called folklore, comes from rural population of the Civilized world."

—**Encyclopaedia of Social Sciences p. 288**

शब्दश्री

क्रमांक 1	हिन्दी 2	पटनी भाषा 3
(1)	आप का क्या नाम है !	क्याह मिन ची शूं?
(2)	आप कहां के रहने वाले हैं ?	कैना आंऊकी शुना?
(3)	आप क्या काम करते हैं?	कैने ची कम ल्वातंग?
(4)	क्या आप जमीदारी करते हैं?	कैने री दांउगी कम ल्वातना कि भलातन ?
(5)	आपके कितने बच्चे हैं?	कैने आथो कटुपटु ल्तन?
(6)	उनके नाम क्या क्या हैं?	दोऊती मिन ची चीं शुऊ?
(7)	आंग्मो, डोलमा, यग्जोम दोरजे, तन्डुप औरछैवंग हैं। कुल तीन लड़कियां और तीन लड़के हैं।	मैंचिमी कटुतु मिन इदऊ, आंग्मों, डोलमा, यग यगजोम कुट्री गंग्कटुतु मिन दोरजे, तन्डुप छैवंग कुट्री वते तुरीगमी केडरे ल्तवंग।
(8)	आपका क्या नाम है और आपकी घरवाली का क्या नाम ? ।	कैनो मिन चीं कुट्री घटनीऊ मिन ची कुट्री?
(9)	मेरा नाम यौना तन्डुप है और घरवाली का नाम लची शेरजेम है ।	शीऊ मिन योना तन्डुप कुट्री घटनीऊ मिन लची शेरजोम लची शेरजोम कुट्री ।
(10)	वह किस किस कक्षा में पढ़ते हैं ?	दौरे अंऊ अऊं जमातंग पडेकपी तो तो टे ?
(11)	बड़े लड़के ने एम० ए० उससे छोटे ने वकालत तथा तीसरे ने डाक्टरी पास की है।	बतेवे मोहडे भेचीपी कटुई एम० ए० पास लत्तो, छवे बाढे बांई बकीली लत्तो बतेवे कोची दोई भिऊ डाक्टरी पास लत्तो ।
(12)	लड़कियों में से एक की शादी हो गई है उससे छोटी आई० ए० एस० की तैयारी कर रही है। सबसे छोटी कालिज में पढ़ रही है।	बत्ते बे मोढ़े भेचीमी कटु ब्यांव शुचै इलजा। दुबे बाढ़े बाढ़े दोई आई० ए० एस इम्तहानो तैयारी ला। बत्तेबे बाढ़े कालिजग पढ़ेकपा।
(13)	आप नमकीन चाय या मिट्ठी चाय पसन्द करते हैं ?	कैने छाकु चा पसन्द लेइया या की वहशी चा ?
(14)	आग, पानी, नमक लकड़ी, सत्तु, धुआं चावल, शोरवा, सब्जी, मक्खन, आदि को क्या कहते हैं ?	नैंची पिंतिग मैंह, ती, छा ज, सीहंग युद्ध, तुहऊ टुर छती या थुकंपा अग क्यामट कुट्री?

क्रमांक	हिन्दी	पटनी भाषा
(15)	आप पानी नलके का पीते हैं या कूल्ह का ?	कैन्जी नलको ती तुम्मतया या ओजनल की टुम्मतया ?
(16)	आपके बड़े लड़के की शादी कब हुई ?	केनों बत्तेवे मोढ़े कटु ब्याह् अपल शुवे ?
(17)	आज बारिश हो रही है।	तोंग सन्दा लेकी तो।
(18)	बर्फ़ पड़ने की सम्भावना ज्यादा है।	मुग अपीमी रींग तो।
	आज कड़ाके की सर्दी है।	तोंग रूसपा लकत थकप्द्रीयो हो लोई द्रो।
(20)	आप तकल्लुफ़ न कीजिए।	कैने जंग जंग थ लाऊ जी,।
(21)	वह खुशी से फूला न समाया।	दोई आमु विचग द्रावटे यापी मरछतो।
(22)	गांव के लोग रंग रलियों में मस्त रहते हैं।	नगरो मीटे गरपीं योन्दरों अन्देग मस्त ठ्याग्जतोर।
(23)	सर्दियों में लोग क्या काम करते हैं ?	गुन्दुऊ दयाढ़रिग भीची ची कम लग्तोरे ?
(24)	लोग घरों में चूल्हे के पास बैठते हैं और कताई का काम करते हैं।	मीहरे तन्दुते फैरे बगजा चाम पन्जिमी कम लैई।
(25)	ज़मीन में हल चलाने का काम कब शुरू करते हैं ?	ऐचीमी दीग्जीमी कम आऊ मोकारिंग लबातैई ?
(26)	खेती बाड़ी का काम अप्रैल मई में करते हैं।	ऐचीमी ढ़िग्जीभी कम पसें ढ़गला दरीम लैई।
(27)	खेतों में खाद कौन सी डालते हैं ?	री दागरीग आऊ नमशाहद कँवातन ?
(28)	आमतौर पर गाय बैल का गोबर तथा भेड़ बकरी की मींगनें डालते हैं।	गावग बंगड्रों लालांग तैंरीई चकढो मालेगचों नम शाहद कँवातन।
(29)	इस साल आलू की फसल कैसी रही ?	तरींग आदु फ़सल क्या वंहगजैरी ?
(3 0)	इस साल आलू का भाव बड़ा तेज़ रहा।	तरींग आव सौदाटीग मंस तैंछी अन्जी तोई।
((31)	क्या आप सर्दियों में कुल्लू जाएंगे ?	तरींग कैना गुहन बज्जी टमदी यवातना ?
32)	क्या आप की पंचायत बहुत अच्छा काम करती है ?	केन्दू पंचायतें रूढ़े कम लवातोरें मलातोरे ?
(33)	क्या आप भेड़ बकरियां भी पालते हैं ?	कैनें तैटेई चथागाढ़ टुमातन न भटुमातन ?
(34)	आपके लड़के की शादी पर मैं बधाई देता हूं।	कैंने योह् व्याटिग जु तरफे मस वधाइयो।

—शिव चन्द ठाकुर*

तुलनात्मक वाक्यावली

क्रमांक	हिन्दी	कहलूरी	कांगड़ी
1	2	3	4
1.	देखो, नगर निवासी लोग इस बात पर मेरी घोर निन्दा कर रहे हैं कि मैंने रावण के घर रही हुई सीता को अंगीकर कर लिया है।	देखो, नगरा रै रैंहणे औले लोक मेरी इसा गल्ला पर बड़ी निहन्देया करया कर दे भई मैं रावणे रे घरे रहूरिया सीता जो अंगीकार करी लया।	दिक्खा, सैंहर च रैंहणे आले लोक मेरी इसा गल्ला पर बड़ी भारी निंदया करा दे भई मैं रावणे दे घरैं रहियां सीता जो अपणीया हिक्का लाई लेआ।
2.	विधाता ने मुझे दुःख सहने के लिए ही रचा है। न जाने, मैंने पूर्व जन्म में कौन सा घोर पाप किया था।	विधाते मिञ्जो दुःख सहणे रे खातर ही रचू रा। पता नी मैं पिछले जन्म कुण जेहा बड़ा पाप कित्तू रा था।	परमेसरैं मिंजो दुःख सहणे तांई ही रचिया, पता नीं मैं पूरब जन्मैं कुण देहा बड़ा पाप था कित्तेया।
3.	यदि मुझे त्याग देने से आपकी निन्दा दूर हो जाए तो मुझे यह बनवास तो क्या मृत्यु भी स्वीकार है।	जे मिञ्जो छड्डी देणे ते तुसां री निह्न्देया दूर हुई जाओ तां मिञ्जो येह् बनवास ता क्या मौत वी मन्जूर ही।	जे मिंजो छड़णे ते तुहाड़ी निंदेआ दूर होई जाए तां मिंजो एह् बणवास तां क्या मौत बी मंजूर ऐ।
4.	हे बेटी, तू दोष से रहित है अब तू इस शोक और दुःख को त्याग कर मेरे आश्रमा में निवास कर, वहां ऋषियों की स्त्रियां और कन्यांए तेरी सेवा करेंगी।	हे बेटी तू दोषा ते रहित ही, हुण तू इस सोगे होर दुःखे जो छड्डी ने मेरे आश्रमा च रह, उत्थी ऋषियारियां स्त्रियां और कुड़ियां तेरी सेवा कर गियां।	हे बेटी, तू दोसा दे बगैर ऐं। हूण तूं इस सोगे कनैं दुःखे जो छड्डी कैं मेरे आसरमे च रह, तित्थूं रिसियां दियां तरीमतीं कनैं कुड़ियां तेरी सेवा करगियां।
5.	यहां रहकर तपस्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार करो जिस ब्रह्मानन्द के सामने संसार के सारे सुख तुच्छ हैं।	इत्थी रही कने अपणियां तपस्या ने तिस ब्रह्मे रा दर्सण करो जिस ब्रह्मानन्दे रे सामणे संसारा रे सारे सुख छोटे हे।	एत्थू रही कैं तपस्या कनैं तिस ब्रह्मे दे दरसण करो जिस ब्रह्मानन्दे दें साह्मणे दुनिया दे सारे सुख छोटे हन।
6.	महामुनि ने लव और कुश को कहा कि हे पुत्रो ! जो रामायण मैंने तुमको सिखाई है उसे यज्ञ में जाकर सुनाओ।	महामुनिये लवे होर कुशो जो बोल्या भई हे पुत्रो! सेजे रामायण मैं तुसां जो सिखाऊरी तिसा जो जग्गे च जाई ने सुणाओ।	महामुनियें लवे कनें कुशो जो गलाया भई ऐ पुत्तरो जेहड़ी रमैण मैं तुहां जो सखालियो तिसा जो जग्गे च जाई कैं सुणाओ।
7.	महामुनि ने उन बालकों को एक वनस्पति दी और कहा कि इसे खा लो, इसके खाने से तुम्हारा कण्ठ बहुत ही सुरीला हो जायेगा और कभी न थकेगा।	महामुनिये तिन्हां बालकां जो इक वण बणास्त दित्ती होर बोल्या भई इसा ओ खाई लौ, इसा ओ खाणे ते तुसां रा गला बौहत ही मिट्ठा होई जाणा होर कदी थकणा भी नी आ।	महामुनियें तिन्हा बालकां जो इक बणबूटी दित्ती कन्ने गलाया भई इसा जो खाई लेया, इसा जो खाणे ते तुहाड़ा कंठ बड़ा ही सुरीला होई जाणा कनैं कदीं थकणा बी नी।

8.	यदि महाराज राम तुम्हें पूछें कि तुम किस के पुत्र हो तो बता देना हम बाल्मीकि के शिष्य हैं, इस से अधिक हम कुछ नहीं जानते।	जे महाराज राम तुसां ते पूछो भई तुसें किसरे मुण्डु हे तां तुसे बोली देणा भई असें बाल्मीकि रे चेले हे, इस ते मता असें कुछ नी जाणदे।	जे महाराज राम तुहां जो पुछन भई तुसां कुसदे बालक हन तां तुसां बोलनेयो भई असां बाल्मीकि दे चेले हन, इस ते मता सांजो नी कुछ पता।
9.	इन बालकों की बातों से श्री रामचन्द्र जी ने जान लिया कि निस्सन्देह ये मेरे पुत्र हैं।	इन्हां बालकां रियां गल्लां ते श्री रामचन्द्र जी ने जाणी लेया भई सच ही ये मेरे ही पुत्र हैं।	इन्हां बालकां दियां गल्लां ते श्री राम चन्द्र जो पता लगी गेया भई सच्चीं एह मेरे ही पुत्तर हन।
10.	महाराज रामचन्द्र ने महामुनि बाल्मीकि के पास दूतों द्वारा संदेश भेजा कि हे मुनि महाराज! यदि सीता का चरित्र शुद्ध है तो वह इसका प्रमाण देवे और यज्ञ मण्डप में आकर सब लोगों के सामने इस बात का विश्वास कराये।	महाराज रामचन्द्रे महामुनि बाल्मीकिये जो दूतां ने संदेश भेज्या भई हे मुनि महाराज! जे सीता रा चरित्र शुद्ध आतां से इसरा प्रमाण देओ।होर जग मण्डपे गे आईने सभी लोकां रे सामणे इस गल्ला रा बिश्वास कराओ।	महाराज राम चन्द्रें महामुनि बाल्मीकिए जो दूतां कनें संदेसा भेजया भई हे मुनि महाराज! जे सीता दा चरित्र शुद्ध ऐ तां सह इसदा सबूत दै कनैं जग मंडपे च आई कै सारेयां लोकां दै साह् मणे इसा गल्ला रा बसुआस कराये।
11.	गेरवे वस्त्र पहने हुए तपस्विनी सीता भरी सभा में इस प्रकार बोली-सारे विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी माता! यदि मैंने अपने पति के सिवा अन्य पुरुष का कभी मन से चिन्तन किया हो तो तू अपने गर्भ में मुझे स्थान दे।	गेरुए कपड़े पहनींने तपसणी सीता भरूरिया सभा च इयां बोली-सारी दुनियां जो धारण करने वाली पृथ्वी माता! जे मैं अपणे धरा आले ते सिवाये किसी दुजे आदमिए रा कदी मने ते चिन्तन किता हो तां तू मिंजो अपणे पेटा च जघा देयां।	गेरूयें कपड़े लाई कै तपसणी सीता भरिया सभा च इहां बोली-सारी दुनियां जो धारण करने आली धरती माता! जे मैं अपणे धरे आले दे सुआये होर कुसी दुए माहणुए दे बारे च कदीं दिले च सोचया होये तां तूं मिंजो अपणे ढिड्डे च जगह दे।
12.	एक धमाका हुआ, भूमि फटी, नागों और दानवों के बनाये हुए एक सिंहासन में विराजमान पृथ्वी माता प्रकट हुई, उसने सीता को अपनी गोद में बिठा लिया।	इक धमाका होया जमीन पटोई, नागां होर दानवां रे बणाईरे सिंहासने च सजी ने पृथ्वी माता प्रकट होई, तिसे सीता जो अपणियां गोद्दा च बिठाई लेया।	इक धमाका होइया, जमीन पाटी नागां कनैं दानवां दे बणाय संघासने पर सजियो धरती माता परगट होई, तिनां सीता जो अपणिया गोदा च बठाली लेया

अनुवादक—1. कु0 सरोज शर्मा, 2. श्री सुख देव शर्मा

हिमाचली पहाड़ी लोकगीतों और लोक कविताओं में कृषक जीवन की झलकियां

—शशी रानी शर्मा, एम0ए0

"मेरे जुब्बल की बात क्या कहना ॥
गूंजे शहनाई जैसे शादी में ॥
—काहन सिंह जमाल

हिमाचल प्रदेश का लोक जीवन मेलों, त्यौहारों, जातरों, उत्सवों में वैसे खिलता और फूलता दीखता है जैसे मई मास में सेब के पेड़ पौधे। इस प्रदेश में विभिन्न घाटियां और वादियां हैं परन्तु सभी में लोकजीवन की एक धारा एक समान दीखती है, कुछ कुछ वैसे ही जैसे पब्बर, गिरी, सतलुज, व्यास और रावी इन पांच नदियों का पानी कितने ही झरनों और खड्डों के पानी को अपने में समो कर सुगम-दुर्गम स्थानों से बहता हुआ अपने प्रवाह की मूल एकता को बनाये रखता है।

इस प्रदेश की घाटियों और वादियों में लोकगीतों के लिये रोहड़ू-जुब्बल, सतलुजवर्ती रामपुर, निरमण्ड; व्यासवर्ती कुल्लू और रावीवर्ती भरमौर, चम्बा प्रसिद्ध हैं। लोक कविताओं के लिए हैं, जैसे रेणुका के चन्द्रमणि वशिष्ट, चौपाल के चेतराम भारद्वाज 'ललित' जाहू हमीरपुर के भगत राम 'मुसाफिर', नालागढ़ के जय देव 'किरण' और धौलाधार के पीयूष गुलेरी। आधुनिक युगबोध का लेखन लघुनगरीय जीवन के उन कवियों द्वारा हुआ है जो महानगरीय जीवन का किताबी अनुभव रखते हैं। ऐसा लेखन अधिकतर हिन्दी में हुआ है।

इस प्रदेश के कृषक का जीवन एक अलग ही ढंग का कठोर जीवन है। पहाड़ में खेत बनाना, मकान बनाने से अधिक श्रम और ध्यान मांगता है। दूर से सुन्दर दीखने वाले छोटे छोटे सीढ़ीदार खेत यहां के कृषकों की तपोमयी साधना का परिणाम हैं। कई लोकगीतों और लोक कविताओं में यह साधना अभिव्यक्त हुई है। हम यहां कुछ एक उदाहरण दे सकेंगे—

एक खेच टीरो गाशे, दूजो खेच नालो दो।
एक उबो सरगो दी, रेको औ पतालो दौ।
म्याणु साथे डेवे, आजे तारे साथे संज्यारे।
भागे भागे थके गोए, तोलुऐ ओ गाशुए॥

—'ललित'

अर्थात् एक खेत पहाड़ी की चोटी पर है और दूसरा खड्ड के नाले में, मानो एक स्वर्ग पर है और दूसरा नीचे पाताल में है, प्रातःकाल म्यानु तारे के साथ खेत में जाती है और संध्या के तारे के उदय होने पर

वापिस आती है। नीचे और ऊपर भाग भाग कर थक गई हूं। सर्दियों में अधिक सर्दी के कारण खेतों के काम के लिये कठिन समय हो जाता है। तब ऊन कातने का कार्य चलता है। जब अपना प्रियतम नौकरी के कारण घर से बाहर गया हो और संयुक्त परिवार में रहते उसका ध्यान आये तो खुलकर रोना भी कठिन हो जाता है। यह स्थिति लोक गीत में प्रगट की गई है —

कोहड़ी ऊना रा लाहटू शालरी ऊना री पूणी।
ऊंघ खोंजली मुंडा-न, दाहीरा, लोभीरे हीकटे रूणी ॥

अर्थात् भूरी ऊन अभी कातने के लिये काफ़ी शेष है, हाथ में कातने के लिये काले रंग की ऊन की पूणी है। सिर में दर्द का बहाना लेकर प्रियतम (लोभी) के वियोग में रो रही हूं।

इस प्रदेश में लाहुल की जीवन शैली का एक अपना अलग विशिष्ट महत्व है। यह जीवन शैली हिन्दू-बौद्ध, पहाड़ी—भोटली दोनों का अद्भुत मिश्रण है। चम्बा के भरमौर-लाहुल की एक प्रणयगाथा इस प्रदेश में प्रसिद्ध है। भरमौर का गद्दी भूंकू और लाहुल की भोटली (भोट सुन्दरी) सुन्नी के प्रेम पर आधारित वह प्रणयगाथा "सुन्नी भूंकू' के नाम से एक लम्बे लोकगीत के रूप में प्रचलित है। इस लोक गीत के आधार पर नाटिका भी मंचित की गई है। इस के आधार पर कवितायें भी लिखी गई हैं। नन्देश की कविता का एक अंश उद्धृत —

सोहणी धरत ते ऊचें खंखरा वाला भोटल देस।
जिते रेहियां लंघीं पुज्जेआ भूंकू पुहाले रे भेस।

तिदी जे जिते जातर पैई, नाच भोटलियां पाया।
नचदे नचांदे तिते भोटली नैणां रा जाल बछाया।
नैण घरम्बे मोहि चूकू गद्दी पुहाल फसाया ॥

किसानों और पुहालों के स्कूल जाते बच्चों का एक शब्द-चित्र हरिप्रसाद सुमन ने खींचा है;

सुत्यनू त्रुटो रे कने जाहनू निकलो रे।
हत्यड़ू कम्बो रे, अते पैरड़ू फ़टो रे ॥

कच्छा हेठे पोथियां लईए चलोरे।
जागत म्हारे एता पढ़णा चलोरे ॥

पहाड़ी कविता का आंदोलन एक प्रकार से किसानों के जीवन को संवारने के प्रयत्न के रूप में आरम्भ हुआ था। किसान अपनी भाषा का आदर करने लगें और हाकमों और व्यापारियों की भाषा से प्रभावित होकर अपने भावों को त्याग न दिया करें। इस प्रकार के भावनात्मक परिप्रेक्ष्य में पहाड़ी भाषा का आंदोलन आरम्भ हुआ था। जयदेव 'किरण' ने इस भाव स्थिति को शब्दबद्ध किया है—

कविता ते दूर न जा, कविता ते प्यार कर।
खिलरू री जिंदड़ी तू एते रा संगार कर॥

धौलाधार के कवि पीयूष पहाड़ी भाषा के प्रतिनिधि कवि समझे जाते हैं। पहाड़ी लोगों का परिश्रमी जीवन और यहां का प्राकृतिक बांकापन गुलेरी की कविता का प्रेरणा स्रोत है—

बांके पहाड़ी लोक, कने बांका म्हारा देस ऐ।
ठीकरें बणाया अप्पू पहाड़ी परदेस ऐ ॥

लोगों का बांकापन और प्रकृति का बांकापन दोनों की अभिव्यक्ति किसान और खेत के संगम में होती है।

किसान और उसकी फसल का फलना परमात्मा और आत्मा की तरह अंशी और अंश हैं। किसान को भूमि का बेटा और पृथ्वी का पुत्र कहा गया है क्योंकि भूमि के गर्भ से अनाज की उत्पत्ति करके वह सारे विश्व का भरण करता है और यह पृथ्वी का पुत्र विश्वम्भर की उपाधि पाता है। फसल पर जब मिंजर आती है तो उसे अपनी मेहनत का फूल समझकर किसान हर्षाता है। देवी देवताओं की मनौती मानता है कि यह फूल अवश्य ही फल बनें। भूमि, किसान, फसल और उसके फूल फल का मिलता जुलता त्यौहार चम्बा का मिंजर मेला है। यह मेला श्रावण मास में लगता है और रियासती ठाठ बाठ से मनाया जाता है। चम्बा के भरमौर और चुराह व भटियात के किसानों और पुहालों का यह प्रिय त्यौहार है। मकई की मिंजर को सर्जन शक्ति का प्रतीक समझा जाता है, अतः यह त्यौहार मानवमात्र के भावों का अंग और अंश बन गया है। गौतम व्यथित ने इस मेले का एक दृष्य अपनी कविता में बांधा है, उसका एक अंश यहां उद्धृत है—

चम्बे रे चुगानै मेला मिंजरा रा लगीरा।
गद्दणी रे बांकपने जग सारा ठगीरा ॥

नक्के मंझ बेसर अो लौंग लशकारदा।
राविया रा पाणी हेठां सांय सांय बगीरा ॥

पहाड़ी लोकगीतों और पहाड़ी लोक कविताओं में यहां के किसानों की श्रमजीवी दिनचर्या का उल्लेख तो कम है, परन्तु दिनचर्या के पश्चात् कभी कभार आने वाले त्यौहारों में किसानों के जीवन का समारोही और स्वच्छ पक्ष अधिक चित्रित हुआ है। वास्तव में यही भारतीय भावना है कि संघर्ष और श्रम के क्षणों का व्याख्यान नहीं करना चाहिए। यदि वह श्रम और संघर्ष प्रभु इच्छा से फलीभूत हो जाए तो उस फ़ल को प्रभु की दावत समझकर देवी देवता के नाम पर त्यौहार मना लेना चाहिए। दुखान्त और सुखान्त से अलग यह प्रसादान्त भावना भारत की अपनी विशेषता है, अपनी उपलब्धि है। पर्वतीय कृषक का श्रमिक जीवन लोकगीतों से प्रसादान्त बनता है।

—द्वारा डा० अशोक शर्मा,
मकर्डी वैन्यू
नाइजेरिया।

"It is (Folklore) essentially of the people, by the people and for the people".

—Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend.

यशपाल जयन्ती समारोह की कार्यवाही का शेषाँश

यशपाल (1903–1976) हिन्दी साहित्य को हिमाचल की विशेष देन हैं। उन्होंने सैंतीस वर्ष साहित्य साधना करके हिन्दी को छियालीस महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रदान कीं। साहित्य कला को जीवन-केन्द्रित बना कर जीवन के सामर्थ्य और माधुर्य को एकत्र किया। उनका साहित्य उभर रही नवीन सामाजिकता को स्वीकार करने की भूमिका तैयार करने का साधन है। शोषित, ताड़ित, पीड़ित चेहरों के बिम्ब अपनी रचनाओं में उतारे। परिवेश दहकते अंगारों की तरह इन की रचनाओं में धधकता है।

इस महान साहित्यिक विभूति का जयन्ती समारोह हिमाचल प्रदेश सरकार ने हिमाचल कला-संस्कृति भाषा अकादमी की मार्फत 3 दिसम्बर, 1977 को इनके गांव भूंपल, ज़िला हमीरपुर में आयोजित किया।

आयोजन में मुख्य मन्त्री श्री शान्ता कुमार, शिक्षा मन्त्री श्री दौलत राम चौहान, विधान सभा अध्यक्ष श्री सरवन कुमार एवं उपाध्यक्ष श्री रणजीत सिंह वर्मा के अतिरिक्त विधायक श्री नारायण चन्द पराशर भी उपस्थित थे। अधिकारियों में श्री रमेश चन्द्र गुप्त, शिक्षा सचिव, श्री सुभरत्न, ज़िलाधीश, हमीरपुर के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वर्गीय यशपाल की धर्मपत्नी श्रीमती प्रकाशवती पाल, उनके भाई श्री धर्मपाल, उनके सहयोगी श्री इन्द्रपाल की पत्नी श्रीमती जगदीश्वरी देवी विशेष पाहुनों में से थे।

भूंपल स्कूल के आंगन का भाग्य खुला। पहली दिसम्बर, 1977 से स्कूल और आंगन का चेहरा उठाने के प्रयत्न आरम्भ हुए। तीन दिसम्बर शनिवार को ग्यारह बजे विशाल मण्डपनुमा मंच पर अतिथि विराजमान हो गए। सर्वप्रथम जनता ने मुख्य मन्त्री को अभिनन्दन और मांगपत्र भेंट किए। जनेच्छा के इस कार्यक्रम के पश्चात् साहित्यिक कार्यक्रम आरम्भ हुआ। साहित्य वार्ताकार श्री मन्मथ नाथ गुप्त और प्रभाकर माचवे थे। माननीय मुख्य मन्त्री श्री शान्ता कुमार की वार्ता का बिन्दु क्रान्तिकारियों द्वारा उत्पन्न चेतना की ओर अधिक था।

यशपाल की स्मृति में वहां के स्थानीय मिडल स्कूल को हाई करने की घोषणा की गई और वहां के स्कूल पुस्तकालय में यशपाल सैक्शन खोला गया। इसके लिए अकादमी ने साठ पुस्तकों की भेंट की।

उसी स्थान पर अकादमी द्वारा पुस्तक एवं चित्र प्रदर्शनी का आयोजन था। इस प्रदर्शनी को दर्शकों ने बहुत सराहा।

दोपहर बाद दो बजे से पांच बजे तक आस पास के स्कूलों एवं वहां पधारे कलाकारों ने उत्साह और स्वेच्छा से रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम के द्वारा दर्शकों का मन बहलाया।

सायंकाल हिन्दी पहाड़ी कवि गोष्ठी का आयोजन था। वह गोष्ठी चार घन्टे चलती रही। अकादमी की ओर से इस आयोजन की व्यवस्था करने के लिए डा० बंशी राम शर्मा, कुमारी सरोज, मीना और ओम प्रकाश गए हुये थे। भाषा अधिकारी कुमारी हुकमा कपिला ने भी पूरा सहयोग दिया। यह समारोह एक साहित्यिक मेला था। आकाशवाणी से समाचार सुनकर अनेक साहित्यकार और साहित्य प्रेमी तथा कलाकार वहां स्वयं ही पधारे थे। यशपाल के इस समारोह को प्रत्येक साहित्यकार अपना ही समारोह समझ रहा था। वह खुश था, इस बात से कि सरकार कभी प्रत्येक साहित्यकार के समारोह की बात भी सोच सकती है।

आगामी कार्यक्रम के लिए दो बातें बार बार कही गईं :-

(1) यशपाल साहित्यकार भवन बनाया जाए।
(2) यशपाल साहित्य स्कूलों व कालेजों में अधिक से अधिक लगाया जाए।

(भाषणों का सारांश अगले पृष्ठ पर)

(पृष्ठ 85 का शेषांश)

उसे छपवाते थे। उन्होंने अपना यह कर्त्तव्य समझ लिया कि मैंने किसी तरह से इस पत्रिका को चलाना है। मैं घर से निकल पड़ी, तीन महीने तक घर से निकली। दरवाज़े दरवाज़े पर गई, मुझे बड़ी सफलता मिली। मैं जहां भी गई, सब हमारी पत्रिका को बिना देखे ही ग्राहक बने। मैंने पैसा भेजना शुरू किया, तीन महीने में वह 'विप्लव' चला, इसके बाद यशपाल जी अपना साहित्य सृजन करते गए और उन्होंने अन्तिम पुस्तक 'मेरी तेरी उसकी बात' लिखी। समाज के दुःख-सुख की कहानियां लिखी। शोषण के प्रति, लोगों के शोषण के प्रति उन्होंने अपनी तूलिका चलाई। जब हम उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सोचते हैं तो हमारा माथा गर्व से ऊंचा हो जाता है।

श्री नारायण चन्द पराशर के भाषण के अंश

आदरणीय बहिन तथा समारोह के मुख्य अतिथि श्रीमती प्रकाशवती पाल जी, इन्द्रपाल जी, बहिन जगदीश पुरी जी, मुख्यमन्त्री जी, शिक्षा मन्त्री जी, अध्यक्ष श्री श्रवण कुमार जी, उपाध्यक्ष श्री रणजीत सिंह वर्मा जी, मन्मथ नाथ गुप्त जी, साहित्य अकादमी के भूतपूर्व सचिव डा० प्रभाकर माचवे जी, बर्जुगों, बहनों और साथियों, आज एक स्वप्न पूरा हुआ। एक चित्र जो अधूरा था उसको पूरा करने का प्रयास आरम्भ हुआ। मैंने जानबूझ कर कहा कि प्रयास आरम्भ हुआ, प्रयास पूरा नहीं, प्रयास पूरा करने के लिए आप सबका सहयोग बड़ा आवश्यक है। यशपाल जी इस धरती के थे, हम भी इस धरती के हैं। उनको प्रणाम करना हमारा स्वाभाविक बनता भी है पर हम यशपाल के स्वप्नों का संसार बना सकते हैं। हम उनका स्मारक, जो उनके अनुरूप होगा, बनाएंगे। यह बड़ी मेहनत तथा लगन का काम है। मैं उन दिनों को याद करता हूं जब लोगों में यह भ्रान्ति थी कि यशपाल जी पंजाब के थे, लखनऊ के थे, इन इलाकों के नहीं थे। उस समय अंग्रेज सरकार ने उनकी विचार-धारा को रोकने के लिए, उनकी लेखनी को रोकने के लिए एक कानूनी बन्धन लगा दिया कि यशपाल जी हमीरपुर, भूम्पल, कांगड़ा नहीं जा सकते। साहित्यकार की कलम सरकार के आदेशों से न रुक सकती है, न रुकेगी! क्रान्तिकारियों के कदम अंग्रेजों की तोपों से क्या रुकने हैं। आगे क्या रुकेंगें। इससे यह पता लगता है कि कानूनी वर्जन तो लग सकते हैं परन्तु क्रान्ति की लहर नहीं रुकती। अंग्रेज सरकार इसमें सफल रही। यशपाल जी मजबूरन उस इलाके में बस गए परन्तु उनका दिल यहीं रहा। यशपाल जी का साहित्य पंजाब के सारे इलाकों में है। उसको पढ़ने के लिए समय चाहिए, लगन चाहिए, यशपाल जी का साहित्य ऐसा है जो समाज को आगे बढ़ा सका है, दिशा दे सका है। यशपाल जी को अपने इलाके और प्रदेश से प्यार था उनके साहित्य से उनकी जीवनी का अवलोकन भली भांति हो सकता है। मैं मुख्य मन्त्री जी का बड़ा आभारी हूं जो उन्होंने यशपाल साहित्य का विवरण दिया तथा यह फ़ैसला किया कि यशपाल साहित्य यहां रखा जाए ताकि यहां के विद्यार्थी यशपाल जी के बारे में कुछ जानना चाहें तो उनके साहित्य की पुस्तकें उनको शीघ्र ही मिल जाएं। वह किताब वह पढ़ सकें, लौटा सकें तथा बाकी लोग भी उसे पढ़ सकें। यह तो एक छोटा सा काम है जो उन्होंने आरम्भ किया है इसके लिए भी बड़ी लगन तथा मेहनत की आवश्यकता है। क्रान्तिकारी का तभी आदर हो सकता है जब लोगों के दिलों में क्रान्ति की लहर आए तथा वह उसका सही मूल्यांकन कर सकें। जो अत्याचार होते हैं उनका सुधार हो जिससे गरीब लोगों पर कोई अत्याचार न हो। एक उनकी पुस्तक है जिसमें उन्होंनें पहाड़ी जीवन का उल्लेख किया है। 'मनुष्य के रूप' में जो हीरो है,। वह जिला हमीरपुर की तहसील बडसर का रहने वाला धर्मसिंह है। वह बड़ा परेशान रहता था उसका उद्देश्य भारत को आजाद करवाना था। वह नेता सुभाष चन्द्र जी की फ़ौज में भरती हो गया। उसने सोचा कि जब नेता जी की सरकार आएगीं, सबसे बड़ा फ़ायदा यह होगा कि जिनके हाथ में जुल्म का ठण्डा है उनकी ताकत घट जाएगी तथा जिनके ऊपर जुल्म होता है, उनकी ताकत बढ़ जाएगीं। जब यह स्वप्न साकार होगा तो यशपाल जी के स्वप्न का संसार बनेगा। बाकी वातावरण बनेगा, इसलिए स्मारक बनाना चाहिए तथा इस बारे में बड़ी कोशिश होनी चाहिए। यह स्मारक बनना बड़ा ज़रूरी है। जिस समय हमने यशपाल जी की मृत्यु की खबर सुनी तो हम बड़े दुःखी हुए। स्वाभाविक है कि अपने प्रदेश के इस साहित्यकार का अभाव हमें खलता है। उनके साहित्य का अध्ययन करने से हमें अपने आप को पहचानने की दृष्टि मिलती है। हमें उनके साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके समाज उत्थान के कार्यों में जुट जाना चाहिए यही उनका एक बड़ा स्मारक होगा।

(श्री नारायण चन्द पराशर का भाषण पहाड़ी भाषा में था, प्रस्तुत अंश इस भाषण का भावानुवाद मात्र हैं।)

—सम्पादक

सोमसी

श्री देसराज डोगरा का भाषण

परमादरणीय भाभी प्रकाशवती जी, बाहिर से आए हुए अतिथिगण, लेखक बन्धुओ, बहनो तथा भाइयो!

मुझे आज्ञा हुई है कि इस अवसर पर दो शब्द मैं भी कहूं। मन भारी हो रहा है। कई पुरानी स्मृतियां मस्तिष्क में आकर टकरा रही हैं। मेरा भाई (यशपाल) जी से काफ़ी पुराना सम्बन्ध था। उन के साथ कुछ समय रहने का सुअवसर भी मिला। उन को निकट से देखा और समझा भी है।

मुझे याद आ रही हैं आज से दस वर्ष पुरानी घटी घटनाएं जब यशपाल जी के साथ हम भ्रमण के लिए आए थे। कितना हर्ष उल्लास था लोगों में और यशपाल जी का हृदय भी प्रसन्नता से गद् गद् हो रहा था। आज वे पुरानी यादें फिल्म के समान एक के बाद एक आंखों के सामने आकर ओझल हो रही हैं।

यशपाल जी को मातृभूमि से कितना प्रेम था यह उन की पुस्तकों, कहानियों व लेखों से काफ़ी स्पष्ट है। मुझे जब भी पत्र लिखते तो लिखा होता – "मैं एक बार फ़िर कांगड़ा आना चाहता हूं।" कहते थे सारी दुनिया घूमा हूं परन्तु कांगड़ा के समान सुन्दर पहाड़ मुझे कहीं नहीं मिले। उनका उपन्यास 'मनुष्य के रूप' कांगड़ा के लिए एक बड़ी देन है।

यशपाल जी एक महामानव थे। वे हर छोटे बड़े को समान समझते थे। जब किसी का एक बार सम्पर्क हो गया, तो उसका हर प्रकार से उत्साह बढ़ाते, सम्मान करते। आडम्बर और दिखावे से दूर रहते। मुझे याद है जब कभी मैं उनसे बड़े आदमियों की बात चलाता तो वे बोलते– मनुष्य परिस्थितियों के साथ बदलता रहा है। तुम्हें भी कभी जीवन में ऐसे, अवसर मिल जाएं, तो तुम भी बहुत कुछ कर सकते हो। उनका विचार था कि मनुष्य के अन्दर गुण दोष भी परिस्थितियों के कारण बनते बिगड़ते हैं। वे साधारण मजदूर और किसान का अधिक मान करते थे।

उन की ईमानदारी लिखने में और जीवन में एक समान थी। वे कभी लोभ लालच में आकर न लिखते थे। उन के दिल में जो भाव समाए, वहीं उद्धृत कर देते। ऐसा करने में काफ़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा। विरोध हुए, लांछन लगे परन्तु उन्होनें अपना रास्ता न छोड़ा। बम्बई में हमेंशा केवल गाड़ियों में तीसरे दर्जे में सफ़र करते। मैं उन्हें कहता आप जैसे नामी लेखक तो भीड़ में नहीं चलते। वे उत्तर देते मुझे भीड़ पसन्द है। इसी तरह हम साधारण होटलों में बैठ कर चाए पीते। महफ़िल मजलिसों से भी कतराते, कहते—एक तो समय नष्ट होता है, दूसरे भाषणों में इधर उधर की मारनी पड़ती हैं।

खाना पकाने बनाने में बड़ी दिलचस्पी लेते। हमारे घर रहें तो मेरी पत्नी को सब्जी भाजी बनाने की तरकीबें सिखाते रहते। स्वयं धरती पर, चटाई पर बैठ कर खाते। उनकी सादगी में भी नफ़ासत थी। उन का शिष्टाचार, बोलने का लखनवी ढंग और मित्रों दोस्तों से प्यार आज ये सारी बातें याद आ आ कर सता रही हैं।

मन्मथनाथ गुप्त जी ने आज ठीक ही बोला। उन का हर एक ग्रन्थ 'नोबल पुरस्कार' का भागी बनता था। उन्होंने जो लिखा है वह चिरकाल तक उदीयमान साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। उन्होने देश के लिए जो बलिदान दिए, साहसपूर्ण कार्य किए वे सदैव आने वाली पीढ़ियों के लिए, आदंश बने रहेंगे। हमारे मुख्यमन्त्री जी ने कहा था—इतिहास को दोबारा लिखने की आवश्यकता है। यशपाल जी का नाम क्रान्तिकारी इतिहास में ही नहीं, स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। कितने जोखिम सहे-उन्होंने देश को स्वतन्त्र बनाने में। भक्त सिंह को जेल से छुडाने के प्रयत्न में वाईसराय की गाड़ी उड़ाना, बम फ़ैक्टरी खोलना, और उस बड़ी अंग्रेजों की हकूमत से टक्कर लेने वाली हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र समाजवादी सेना का नेतृत्व करना। झूठा सच जैसे ग्रन्थ लिखने वाले, उन्हें विश्व के दस महान ग्रन्थकारों में से एक माना गया हैं।

यशपाल जी के विभिन्न रूप रहे हैं, और सारे एक से एक बढ़ कर। उन के बनाने में उन के परिवार का बड़ा हाथ रहा है। माता प्रेम देवी ने देश भक्ति का मार्ग दिखाया, भाई धर्मपाल ने लक्ष्मण जैसे

भाई का साथ दिया और भाभी प्रकाशवती ने तो एक सच्ची हिन्दु नारी के कर्तव्य को निभाया। एक बार पति मान लिया तो जेल में ही शादी रचा दी। दुख, गरीबी, कष्ट में रह कर कौन से पापड़ नहीं बेले। हमारा मस्तक इन दोनों देवियों, माता प्रेमदेवी और भाभी प्रकाशवती के आगे झुक जाता है।

भूम्पल ग्रामवासियों, हमीरपुर, कांगड़ा, हिमाचल के नागरिकों को गर्व है कि यशपाल जैसे महान शूरवीर योद्धा लेखक को जन्म दिया। यशपाल जी के साथ भूम्पल का नाम भी जिन्दा रहेगा। जो कोई भी यशपाल को जानना चाहेगा भूम्पल भी जरूर आएगा। इसलिए यह उचित ही है कि यहां उनका स्मारक बने। स्मारक ऐसा, जो उन की शान के शायां हो। हिमाचल सरकार ने उनकी 74 वीं जयन्ती यहां मना कर एक कर्तव्य पूरा किया। स्कूल को हाई बनाकर और लाईब्रेरी खोल कर कुछ स्मृति-चिन्ह कायम किए परन्तु उस महान आत्मा के प्रति अभी और बहुत कुछ करना है जिस से न केवल हम उन के प्रति अपने कर्त्तव्य ही निभा पाएं परन्तु उन के बताए हुए आदर्शों पर चल सकें।

मेरी मुख्य मन्त्री जी से कई बार बात हुई है। वे और मैं सन् 1967 की यात्रा में उन के साथ भी इकट्ठे रहे। उन्होंने कहा है कि हम एक 'यशपाल स्मारक समति' का गठन कर रहे हैं। एक ट्रस्ट बनाएंगे और रहंग सोचेंगे। जिससे हम स्मारक सम्बन्धी कुछ कार्य कर सकें। यशपाल भूम्पल के ही नहीं, हिमाचल के ही नहीं, भारत के ही नहीं, विश्व विख्यात लेखक हैं। सब कुछ उनकी प्रसिद्धि के अनुकूल करना पड़ेगा। यह समारोह तो केवल उस मृत आत्मा के प्रति एक तुच्छ भेंट, एक श्रद्धांजलि समान है। हम आगे इस योग्य हों कि उस वीर पुरुष के अमरत्व में योगदान दे सकें।

अन्त में मैं हिमाचल सरकार का बहुत आभारी हूं कि उन्होंने इस समारोह को कर के यशपाल स्मारक योजना का सूत्रपात किया। मैं भाभी प्रकाशवती, डा० नन्दलाल, भाई धर्मपाल, जगदीश्वरी देवी, सरदार सिंह और भाई यशपाल जी के साथियों, सहयोगियों का धन्यवाद करता हूं जिन्होंने दूर से यहां आने का कष्ट किया।

शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर वर्ष मेले,
वतन पे मरने वालों का यही नामो निशां होगा।

धन्यवाद।

श्रीमती प्रकाशवती के भाषण के अंश

माननीय मुख्यमन्त्री जी तथा हिमाचल के साथियो ! मैं आपके बीच 10 साल के बाद खड़ी हुई हूं। आज से 10 वर्ष पहले मैं यहां यशपाल जी के साथ आई थी। यहां पर मुझे याद है, एक पीपल का पेड़ था। इस जगह पर यशपाल जी बैठे थे, यहां पर बड़े स्नेह से लोग उनसे मिले थे। और अपने-अपने दुःख-सुख की बातें उन्होंने यशपाल जी से कीं। यशपाल जी हिमाचल में बहुत दिन तक नहीं आ सके यह उनकी मजबूरी थी। मजबूरी यह थी कि जिस समय वह जेल से रिहा हुए तो पहली शर्त जो सरकार ने रखी वह यह थी कि न तो वह पंजाब जा सकते है, न हिमाचल प्रदेश। उसका रिजल्ट यह हुआ कि हमें लखनऊ में ही रहना पड़ा और लखनऊ में ही अपना कार्यक्रम करना पड़ा। जो कुछ भी उन्होंने रचनाएं कीं वे लखनऊ में ही बैठ कर लिखीं। मैं यह जानती हूं कि इस स्थान के लिए, जहां उन्होंने अपना बचपन गुजारा था, उसकी याद उन्हें बेहद विकल कर देती थी। मैं ब्यान नहीं कर सकती कि वह किस तरह से छटपटाते थे। वह इन चीड़ों के साए में साएं-साएं के साथ, अपने इन लोगों की धड़कनों को सुनते थे ! और धड़कनों के साथ, होने वाले शोषण को भी। उनके साथ होने वाले अन्यायों को भी। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने कई कुछ लिखा। कई कहानियां, उपन्यास इसी आशय को लेकर उन्होंने लिखे जिसकी याद उन्हें हमेशा ही सताती थी। वह इन चीड़ों की साएं-साएं के साथ पहाड़ी झंझोटियों को भी गुनगुनाते थे। उन झंझोटियों को उन्होंने अपनी कुछ कहानियों में भी लिखा। उन्होंने पहाड़ में रहकर, पहाड़ को याद कर के यहां की धड़कनों को सुना। और हिमाचल से लेकर केरल तक मनुष्य के शोषण को देखा, सुना और अपनी लेखनी से लिखा। यह तो उन्होंने साहित्य में किया। दूसरा जीवन जो उन्होंने जीया वह बड़ा महत्वपूर्ण जीवन था। वह था, अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने का। इस से प्रेरणा लेकर उन्होंने सोचा कि इतनी बड़ी सलतनत जो हमारे देश पर छाई हुई रहा, हम उसे निकाल सकते हैं। उन्होंने बड़ी बड़ी योजनाएं बनाईं। उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए रोहतक में जाकर बड़े बड़े बम बनाए, बम का मसाला बनाया। उस मसाले को बनाते समय उसकी जो भाप उनके स्वास में गई, आज उनके निधन का कारण भी वही है। जब वह बम का मसाला बनाने का काम करते थे तो सारा बदन उनका उस भाप से पीला हो जाता था। और थोड़े दिनों के बाद ऐसा महसूस होता था कि उस पर से खाल उतर रही है। परन्तु उस समय उन्होंने महसूस नहीं किया क्योंकि उनको लगन थी, एक जोश था, ब्रिटिश सरकार को निकालने का। उस समय उनको अपने तन बदन की कोई सुध नहीं थी। वह चाहते थे अपने देश से अंग्रेजों को निकालना। वह उन्होंने किया भी। बम के मसाले से बम बनाए। जिस वक्त लाहौर कान्फ्रैंस होने जा रही थी और गांधी जी लार्ड इरविन से बातचीत करने के लिए जा रहे थे उस समय उन्होंने वह धमाका किया। उनका तो यह विचार था कि यह जो बम चलेगा वह उस सत्ता को आज समाप्त कर देगा जिसने हमारे यहां के रहने वालों का शोषण करके हराया है। आज हम बरबाद हो गए हैं, हमारे देश के लोग गरीब हो गए हैं। उस वक्त उन्होंने वह धमाका करके उस सलतनत को डगमगा दिया। उस वक्त, मैं जानती हूं कि वह इतना घबरा, गए थे लेकिन हर चीज का एक खमयाजा देना पड़ता है। उस खमयाजे को देने के लिए वह इलाहाबाद में पकड़े गए। 14 साल की सजा हुई, 14 साल की सजा के दरम्यान वह 7 साल में छुट तो गए लेकिन बड़ा भारी अटैक उनको उसी बम के मसाले से, जिसने इनके फेफड़ों को छलनी कर दिया था, पहला अटैक उनको जेल में हुआ था, उस अटैक के होते ही मुंह से खून इतना गया कि जब मैं उन्हें देखने गई तो मुझे लगता था कि यह एक पीला सा बिस्तर पड़ा है, आदमी नजर नहीं आता था। खैर. धीरे-धीरे कोशिश की गई। जेल में फैसला हुआ कि सब कैदियों को छोड़ा जा रहा है यशपाल जी को भी छोड़ेंगे। सब कैदियों को छोड़ दिया गया। जब यशपाल जी की बारी आई तो गवर्नर ने यह कहा कि हम एक व्यक्ति को नहीं छोड़ेंगे, और वह यशपाल हैं। ब्रिटिश सरकार उनसे इतना घबराती थी कि उन्होंने कहा कि वह एक भयानक व्यक्ति हैं। यह बहुत बड़ी चोट करने वाला व्यक्ति है, हम इन्हें नहीं छोड़ेंगे। परन्तु कांग्रेस सरकार के सामने उस वक्त एक ऐसा प्रश्न था वह वायदा कर चुके थे कि सारे कैदियों को छोड़ना है यहां तक नौबत आ गई कि नीति में कांग्रेस को अपना पद छोड़ने की बात आ गई कि यदि यशपाल जी को नहीं छोड़ेंगे तो हम मिनिस्ट्री छोड़ देंगे। लेकिन कुछ भी हो, वह राजी हो गए। और उन्होंने कह दिया कि तीन चार दिन के बाद लखनऊ छोड़ दें। वह उस समय भी बीमार थे। फिर मैं उनको वहां से ले गई, उनका इलाज करवाया, फिर स्वस्थ होने के बाद हम लखनऊ आ गए क्योंकि न हम हिमाचल में जा सकते थे, न पंजाब में। लखनऊ में रह कर ही आजीविका उपार्जन हमने किया। उस समय न हमारे पास पैसा था और कोई भी हमें 'सपोर्ट' करने वाला न था। चिन्ता हमें खाए जा रही थी, जैसा भी मुझसे हो सकता था मैंने उनका साथ दिया। किसी न किसी तरह से उन्होंने 75 रुपये की नौकरी की। और कह दिया कि मैं दूसरे आदमियों के आर्डर पर नहीं लिख सकता हूं। और नौकरी छोड़ कर वे एक महीने के बाद चले आए और अपना स्वतन्त्र प्रकाशन 'विप्लव' नाम की पत्रिका उन्होंने प्रकाशित की। उनमें लगन की इतनी हद थी कि वह अलग अलग नामों से सारी की सारी पत्रिका लिख जाते थे। और अपने आप ही वह

(शेष पृ० 81 पर)

बिलासपुर गोष्ठी में व्यक्त विचारों का सार

बिलासपुर में दिनांक 8 जनवरी, 1978 को अकादमी द्वारा साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया गया। विधायक श्री नारायण सिंह स्वामी ने गोष्ठी की अध्यक्षता की। अकादमी के सचिव श्री एच0सी0 पराशर ने साहित्यकारों का स्वागत किया तथा अकादमी की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। गोष्ठी के अतिरिक्त चित्रकला प्रदर्शनी व पुस्तक प्रदर्शनी का आयोजन भी किया गया। गोष्ठी में जिन विषयों पर पत्र पढ़े गये, उनका सार इस प्रकार है—

१. श्री शबीर कुरैशी ने 'कहलूरी कविता' विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि कहलूरी का भाषा के रूप में विकास देवनागरी लिपि के प्रचलन के साथ हुआ। बिलासपुरी कविता के उद्भव के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि समस्त हिमाचल प्रदेश की कविता का मूल स्रोत उसके लोक गीत हैं। इस से स्पष्ट है कि रचनाकार मंच की तलाश में न था, उसे श्रोता जगत नहीं चाहिए था। वह केवल मात्र अपने परिवेश में रहकर बिना छन्द का प्रयोग किये आम लोगों की भाषा में कह गया परन्तु वह पानी के बुलबुलों के समान न होकर उसमें मानवीय भावनाओं की सत्यता निहित थी, जिसके कारण यह आज भी जीवित है और ये कलियां खिलती चली गईं।

बिलासपुरी उपभाषा में कविता या अन्य रचनाओं की एक बाढ़ सी 1966 के पश्चात् आई। बहुदा बिलासपुरी कविता में गोबिन्दसागर की झील और पुराने नगर के विषय में दिल खोल कर लिखा गया है। श्री कुरैशी के अनुसार कविता लिखने के प्रयत्न इने गिने हैं। बिलासपुरी में गम्भीर कवितायें लिखने का भी प्रयास हुआ जैसे:

पलां ने घड़ियां, बीती जान्दे दिन,
दिनां ते महीने होई जान्दे साल,
इंयां बीती जाणी तेरी जिन्दड़ी।

जब किसी भाषा का विकास हो रहा होता है, उस समय उस के लिये स्तर के मापदण्ड निश्चित करना उसकी गति को अवरुद्ध करना होता है। इस समय जो कुछ कविता के क्षेत्र में लिखा जा रहा है वह स्तरीय न होकर ट्रैश भी हो सकता है। समय के साथ यह कमी पूरी होगी।

मित्र साहित्य परिषद् द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा श्री रूप शर्मा ने की। आज तक मित्र साहित्य परिषद के द्वारा प्रकाशित पुस्तकें हैं—फुल कन्ने पत्ते, अरमान, समर्पिता, तिन फुल्ल, नीरा, पहाड़ी मुहावरे एवं श्री कृष्ण अर्जुन संवाद। इनमें तीन हिन्दी में तथा चार पहाड़ी में हैं।

'फुल्ल कन्ने पत्ते' पुस्तक की समीक्षा करते हुए बताया गया कि इस काव्य संग्रह में कुल 33 कवितायें हैं जो कि विभिन्न अवसरों पर पहाड़ी परिवेश में पहाड़ के लोगों की ही भाषा में लिखी गई हैं।

परिषद की दूसरी प्रकाशित पुस्तक है 'अरमान' इस उपन्यास में प्रेम शास्त्री ने नए ढंग से दहेज के लालची लोगों पर तीव्र प्रहार किया है।

"समर्पिता" श्री सदानन्द का दूसरा कहानी संग्रह है। इसमें दो कहानियां हैं। समर्पिता तथा पारसनाथ। एक ऐतिहासिक कहानी है।

"तिन्न फुल्ल" पुस्तक में एकांकी हैं। जयदेव शर्मा का यह प्रथम प्रयास है। पहली एकांकी कहानी 'कुर्बानी' दूसरी 'दाज' तथा तीसरी 'सुखी टब्बर' है। तिन्न फुल्ल एकांकी में मण्डियाली एवं कहलूरी भाषा का सुन्दर समन्वय किया गया है।

'नीरू' रूप शर्मा का तीसरा उपन्यास है। इस उपन्यास का कथानक मुख्य रूप से 19 जनवरी, 1975 किन्नौर और लाहुल स्पिति में आये भूचाल पर आधारित है।

प्रेम शास्त्री की कृति "पहाड़ी मुहावरे" में बिलासपुर, मण्डी, सोलन के सीमावर्ती क्षेत्रों में लोगों द्वारा प्रयुक्त होने वाली 109 पहेलियों एवं तीन सौ के लगभग मुहावरों का संग्रह किया है।

"श्री कृष्ण अर्जुन संवाद" बालक राम भारद्वाज की उत्कृष्ट रचना है। इस में गीता का पहाड़ी में भावानुवाद किया गया है। अनुवाद का कार्य इतनी कुशलता और सहजता से किया गया है कि यह पुस्तक स्वयं में एक मौलिक रचना बन गई है।

श्री बालक राम भारद्वाज ने "झेड़े" विषय पर अपना विषय पत्र पढ़ा। उन्होंने ने कहा कि लोक गाथाओं, झेड़ों, कथाओं तथा गीतों में समाज की वास्तविकता की अधिक मात्रा विद्यमान रहती है।

झेड़ों को सुनने सुनाने से यहां के रीति-रिवाज, वेश भूषा का साक्षात रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, इस वीर भूमि में राजा जगता जैसे वीर योद्धा हुए हैं। 'राजा जगता' झेड़े में कूटनीति का भी अच्छा उदाहरण मिलता है, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये राजा जगता को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं।

इसी प्रकार गढ़ मलौण में रानी बादलो द्वारा राजा गम्भीरचन्द को युद्ध के लिये प्रेरित करना, राजा द्वारा टालमटोल करने पर रानी का हठ करना, देशद्रोह के कारण वजीर का अपने प्राणों से हाथ धोना, हंडूर की रानी द्वारा पम्मे को बुलाना, तात्कालिक परिस्थियों का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है।

'राजा भरतरी' में बाल्यावस्था का बड़ा ही सुन्दर चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। उसमें बताया गया है कि एक बच्चे को कितनी विकास सीढ़ियों से निकलना पड़ता है।

मनुष्य का जीवन सुख दुख से भरा पड़ा है, इसी तथ्य को 'चम्बे का ब्राह्मण कंजरू,' प्रस्तुत करता है। कंजरू भले ही जागीर का स्वामी बताया गया है परन्तु उसकी मां के द्वारा चर्खा कातना व चोली बनवाना इस बात का प्रमाण है कि वह साधारण परिवार से था। जवानी का तथा भाग्य का चढ़ाव दोनों साथ साथ चलने लगे और उसे प्रधान मन्त्री बना हुआ दिखाया गया है।

गढ़ छिञ्यार बड़ा ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक झेड़ा है इस में तात्कालिक वातावरण का सजीव चित्र है, राजा संसार चन्द की बढ़ती हुई शक्ति तथा कहलूर की भूमि को हथियाना, कहलूरी राजा द्वारा पहाड़ के 22 राजाओं से सहायता मांगना, परन्तु सब व्यर्थ। आखिर सिरमौर के राजा के पास अपना दूत भेजना। सिरमौर के राजा की सौतेली मां के इस व्यंग्य को कि "जितने तेरे पास सिपाही हैं उतने राजा संसार चन्द के पास घास ढोने के लिये घोड़े हैं," को सहन न कर बिलासपुर पहुंचना, सेनाओं का अगुआ बन कर सिरमौरी राजा द्वारा संसार चन्द की सेनाओं से युद्ध करना तथा सिरमौर के राजा की प्राण हानि होना आदि गढ़ छिञ्यार में वर्णित है।

आज तक लिपिबद्ध उपलब्ध झेड़ों में वीररस की प्रधानता है। हिमाचल प्रदेश के इन बिखरे पहाड़ों में बिखरे हुए इस लोक साहित्य को यदि लिपिबद्ध कर लिया जाये तो यह हिमाचल का ही नहीं, अपितु भारत के समस्त प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में एक समृद्ध साहित्य के रूप में अपना स्थान बनायेगा।

श्री आनन्द बी० एल० शर्मा ने "यशपाल के निबन्धों में उनकी विचारधारा" पर अपना विषय-पत्र पढ़ा। उन्होंने कहा कि श्री यशपाल जी अपने निबन्धों में लम्बी लम्बी बस्तुओं के द्वारा अपनी मान्यताओं तथा अपने पक्ष की पुष्टि में बहुत कुछ कह डालते हैं। यदि विश्लेषण करें तो इनके सर्वप्रथम कहानी संग्रह "पिंजरे की उड़ान" के प्रारम्भिक 'दो शब्द' में इन्होंने कल्पना तथा यथार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है, "कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकतायें होती हैं, इसी लिये कथा कहानी के रूप में कल्पना का महत्व है"। सौंदर्य और प्रेम को अपने निबन्ध संग्रह 'चक्कर क्लब' के निबन्ध "साहित्य कला और प्रेम" में लिखा है, "कोई वस्तु सुन्दर लगती है तो उसका कारण है, तृप्ति की आशा या तृप्ति की स्मृति, जो मनुष्य के मन में चाह को गुदा गुदा देती है"। अतः उन्होंने सौंदर्य की पृष्ठभूमि में आशा, तृप्ति या स्मृति का होना अनिवार्य माना है।

श्री यशपाल प्रचार रहित साहित्य को निर्जीव एवं अनुपयोगी साहित्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं। "बात-बात में बात" निबन्ध संग्रह के 'साहित्य का प्रयोजन और रूप' शीर्षक निबन्ध में वह लिखते हैं, "उद्देश्यों आदर्शों और विचारों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति ही साहित्य है" चक्कर क्लब के साहित्य कला और प्रेम शीर्षक निबन्ध में भी वह प्राचीन साहित्य को समाज के मालिक वर्ग के मनोरंजन का साधन मात्र मानते हुए कहते हैं, "साहित्य का उपयोग किसी समय राजाओं, सामन्तों और बड़े लोगों के लिये था"।

श्री यशपाल को किसी भी दृष्टि से परखें उन्होंने केवल अपने निबन्धों में ही नहीं बल्कि अपने समग्र साहित्य में दरिद्र नारायण के पक्ष में ही आवाज उठाई है। 'न्याय का संघर्ष' नामक निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि न्याय की दुहाई सब देते हैं परन्तु उसकी परिभाषा सब की अपनी अपनी है।

'गांधीवाद की शव परीक्षा" निबन्ध में उन्होंने समाज में सहयोग से उत्पन्न पदार्थों का सभी के हित के लिये समान रूप से वितरण ही न्याय संगत सिद्ध किया है, जैसा कि कुटुम्बों के रूप में संगठित आदिम समाजों में होता था।

इसी सार को बनारस विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव ने इनके प्रभावपूर्ण लेखों का अनुशीलन कर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं, "इन लेखों को पढ़कर आपके होठों पर जो मुस्कराहट आएगी वह आत्म विस्मृति, आनन्दोल्लास, की न होकर क्षोभ, परिताप और करुणा की होगी"।

डा० एस० के० शर्मा ने स्वर्गीय यशपाल के उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' की समीक्षा की। श्री शर्मा ने बताया कि उक्त उपन्यास एक विशालकाय उपन्यास है। वास्तव में यह रचना 1914 से पूर्व के 1945 तक के सारे भारत की बात है। उपन्यासकार ने 'मेरी' के माध्यम से क्रांतिकारी वर्ग, 'तेरी' के द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम में रत सारी भारतीय जनता तथा 'उसकी बात' से सारे विश्व के प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग की चर्चा भारतीय स्वतन्त्रता की उपलब्धि के निमित्त की है। यह रचना भारतीय जन मानस की आज़ादी की प्राप्ति के लिये किये गये क्रांति के अनवरत प्रयत्नों की बृहत कहानी है।

डा० शर्मा ने बताया कि सम्भवतः उपन्यासकार 'मेरी' से अपने समान धर्मा क्रान्तिकारियों, 'तेरी' से भारतीय नारी की प्रतिनिधि क्रांतिपरायणा निज जीवन संगिनी तथा 'उसकी बात' से इस दिशा में असंख्य ज्ञात व अज्ञात नामा बलिदानी लोगों के योगदान को ध्वनित करना चाहते हैं। लेखक के शब्दों में, "मैं, तुम, वो स्वतन्त्रता के लिये जूझ कर अपने विचार में स्वतन्त्र होकर भी छटपटा और सिसक रहे हैं।" 'यही मेरी, तेरी उसकी बात अपनी सहायक संगिनी प्रकाशवती के सहयोग से 'मेरे, तेरे, उसके' विचार के लिये, राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर भी भारतीय जनमानस अभी तक सिसक व छटपटा रहा है', को दृष्टि में रख कर लिखी गई है।

श्री यशपाल जी 'मेरी तेरी उसकी बात' में सुदीर्घ भारतीय जीवन के जिन व्यापक संदर्भों को लेकर चले हैं उनके विश्लेषण में उन्हें आशातीत सफलता मिली है।

प्रस्तोता—कु० विद्या शर्मा

दिनांक 8-1-78 को सायं: 3 बजे श्री नारायण सिंह स्वामी विधायक की अध्यक्षता में म्युनिसिपल रैस्ट हाउस में ही एक नाट्य कलाकार गोष्ठी का आयोजन किया गया। गोष्ठी की रिपोर्ट प्रस्तुत है:—

सर्वप्रथम श्री राम लाल पंडीर, महा सचिव, नवदीप क्लब बिलासपुर ने क्लब द्वारा किये गये कार्यक्रमों का ब्यौरा प्रस्तुत किया, उन्होंने बताया कि उनका क्लब दो बार कुल्लू दशहरा महोत्सव में भाग ले चुका है व समय समय पर नलवाड़ी मेला के अवसर पर 15 अगस्त व 26 जनवरी जैसे राष्ट्रीय पर्वों पर भी उनके क्लब की ओर से कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी प्रकार हिमाचल में जब नये क्षेत्रों का सम्मिलन हुआ था तब भी इसी क्लब ने बिलासपुर ज़िला का प्रतिनिधित्व किया था। साथ ही श्री पंडीर ने अपने क्लब के पदाधिकारियों से भी परिचय करवाया। उन्होंने सचिव, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी से निवेदन किया कि उनके क्लब को अधिक से अधिक वित्तीय सहायता प्रदान की जाये ताकि वह वित्तीय कठिनाइयों पर काबू पाकर क्लब का कार्य सुचारु रूप से चला सकें।

इसके पश्चात् श्री श्यामलाल गुप्ता ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि बिलासपुर का रंगमंच राजा आनन्द चन्द के शासन काल में अपनी सर्वोच्च सीमा पर कार्य कर रहा था परन्तु उस समय अधिक जोर पारसी थियेटर विभाग पर ही दिया जाता रहा, उस समय ग्राम्य-विधा व नागरी-विधा में कोई अलगाव नहीं किया गया था। श्री श्याम लाल ने किसी साहित्यिक नाटक के मंचीयकरण की आवश्यकता पर बल दिया।

तीसरे मुख्य वक्ता थे श्री ओंकार नाथ। इन्होंने कहा कि बिलासपुर की भौगोलिक स्थिति ही इस प्रकार की है कि यहां किसी शुद्ध कल्चर की अपेक्षा करना ही गलत है। यदि किसी नाट्य-विधा को बिलासपुर का लोकनाटक कहा जा सकता है तो वह बिलासपुर का रामनाटक है। साथ ही श्री ओंकार नाथ ने कहा कि अकादमी को बिलासपुर की लोक-कथाओं के पीछे नहीं जाना चाहिये। कथा कहीं की भी हो, प्रस्तुतीकरण स्थानीय होना चाहिये। अन्त में उन्होंने कहा कि बिलासपुर में अकादमी को किसी साहित्यिक नाटक का मंचन करना चाहिये।

चौथे वक्ता श्री प्यार सिंह, मुख्याध्यापक राजकीय हाई स्कूल बिलासपुर ने कहा कि रंगमंच विधा की प्राइमरी वर्कशाप स्कूल ही होते हैं अतः अकादमी को स्कूली प्रयास करना चाहिये। इसके लिये उन्होंने कहा कि स्कूलों को तकनीकी सहायता प्रदान की जानी चाहिये। ज़िला स्तर पर वाद्ययन्त्रों व Folk custumes के भंडार बनाये जाने चाहियें जहां से प्रत्येक शिक्षण संस्थान आवश्यकता पड़ने पर यह सामान ले सके।

पांचवें वक्ता श्री आर०डी० टेस्सु ने कहा कि बिलासपुर में एक 'ओपन एअर थियेटर' बनाया जाना चाहिये। इसी प्रकार उन्होंने 'राजा रसालू' नामक लोक कथा के नाटकीयकरण की संभावना पर बल दिया और कहा कि यदि अकादमी के लोक नाटक "लाटीशरजांग हिनाडन्डुव" का मंचीयकरण नलवाड़ी मेले के अवसर पर किया जाये तो उसी प्रकार के प्रयास स्थानीय कलाकर भी कर सकते हैं।

अन्त में निर्णय लिया गया कि प्रेम लाल टेस्सु व श्री राम लाल पंडीर 31-1-78 तक राजा रसालू कथा एकत्रित करेंगे। बाद में बिलासपुर में एक लोकरंगमंच नाट्य कार्यशाला का आयोजन किया जायेगा।

श्री नारायण सिंह स्वामी, विधायक ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि मैं रंगमंचीय कलाकारों को अधिक से अधिक सहायता दिलवाने का प्रयत्न करूंगा तथा मेला नलवाड़ी में "लाटी शरजांग हिनाडन्डुव" के मंचीयकरण की व्यवस्था भी की जायेगी।

प्रस्तोता—श्री योगेश गम्भीर

तिमाही रिपोर्ट

(जनवरी-मार्च 1978)

इस तिमाही में अकादमी के कार्यक्रमों और उपलब्धियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(क) 12 और 14 जनवरी, 1978 को शरद कालीन पर्यटकों के लिए दो सांस्कृतिक कार्यक्रमों का गेटी में आयोजन।
(ख) 15 जनवरी, 1978 को राजनिवास में ग्राम्य नृत्य कार्यक्रम का आयोजन।
(ग) 6 फरवरी, 1978 को काली बाड़ी हाल में 'लाटी शरजांग हिनाडण्डुव' नाटक का आयोजन।
(घ) 12 फरवरी से 18 फरवरी, 1978 को असम राज्य में छः सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।
(ङ) सोमसी जनवरी, 78 का प्रकाशन, 'देई जुल्फू' का प्रूफ़ शोधन, कुल्लूई उपभाषा पुस्तक का सामग्री संकलन।

—मीना ठाकुर

"Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of primitive man".

—Espinoza, O. M.

उपस्थापन—

सांस्कृतिक विघटन: एक मनःस्थिति

—एच० सी० पराशर

प्रथम महायुद्ध के बाद सांस्कृतिक मूल्य बिखरने लगे। प्रति पल मंडराने वाली मौत की छाया ने कामुकता को अधिक आतुर किया। वैज्ञानिक अन्वेषणों से जीव-शास्त्र और मनोविज्ञान ने मनुष्य को नग्न रूप में प्रकट किया, अतः भौतिकवाद प्रबल हुआ। नैतिकता बेमायनी हो गई। अणु की विध्वंसक शक्ति ने मानवीय चेतना को झकझोर दिया। मोहब्बत, मौत और खुदा पर आधारित संश्लिष्ट जीवन-मूल्य विखण्डित होने लगे। वेदना, कुण्ठा, बुभुक्षा, अनास्था, निराशा, आकुलता, अनिश्चितता ने संवेदनशील व्यक्ति को घेर लिया, वह सम्भोग की ओर मुड़ा, रक्त की लय पर उत्सव करने में उसने राहत महसूस की। नुची, चिथी, बजबज बनी परम्परा को वह खुर्राट वेश्या के सड़े अंगों की तरह कुत्सित समझकर छोड़ने लगा। व्यवस्था—विद्रोह नारी के शरीर के इर्द गिर्द ही सिमट कर रह गया। दफ़्तर या कारखाने पर हिंसक हमला करने वाला कमीना व्यक्ति कविताओं में उभरने लगा। संत्रस्त होकर वह क्षुद्र वासनाओं में लिप्त हो गया। मूल्यों की ऐसी ऊसरभूमि में सांस्कृतिक विघटन का पक्षधर फनियर नाग खुले आम रींगने लगा।

सम्भोग और मोह के कारण मनोरुजा में विकार आया। संघर्ष की वास्तविक स्थिति को ही अस्वीकारने लगा, अथवा संघर्ष में स्वयं ही स्वयं को पराजित समझकर अलग हो गया। उसमें मानसिक उन्माद बढ़ने लगा, वह समझने लगा कि मुझे आसपास के लोगों ने छला है, सब पर शंका करना उसका स्वभाव हो गया।

विघटित मानव-कल्पित विरोधियों पर अपशब्द उछालना उसको प्रिय लगता है, कभी कभी हिंसक रूप भी धारण कर लेता है।

इससे वह दूसरों से शर्मिन्दा होकर बाहर से तो अकेला हो जाता है परन्तु खाली कमरे में अकेली घड़ी की तरह दूसरों से एकदम भिन्न और निरपेक्ष होकर तो जिया नहीं जा सकता। अतः गोपनीय रूप में वह अपना संकीर्ण घेरा बनाता है और यह चाहता है कि उसके घेरे के अपने लोग भी दूसरों से कट जाएं। शुभ चिन्तना से भी जब कोई व्यक्ति उसकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाता है तो भी वह उसमें भी किसी दूरस्थ निमित्त अथवा गुप्त प्रयोजन की दुर्गन्ध सूंघता है। उसकी आंखों में करुणा है, चेहरे पर बौद्धिक लज्जा है, व्यवहार में निडर, निर्भीक बेशर्मी है। जब वह महसूस कर लेता है कि प्यार केवल निजी व्यक्तित्व के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता है तो सामाजिक व्यक्तित्व के विकास के लिए वह विद्रोह को अपनाता है। सैक्सी गुब्बार उठ कर ठण्डा हो जाने पर वह रेशम के कीड़े की तरह अपने भीतर से ही सूत निकालने लगता है, परिवेश के साथ समझौता करने की उसे आवश्यकता नहीं रहती। रेशम का कीड़ा अपने भीतर से रेशम निकाल कर समाज को देता है और वह अपने भीतर से अपनी भोगी हुई भावनाएं समाज को देता है।

आदर्श और नैतिकता से घृणा करना आज के विघटित मानव का स्वभाव बन गया है। उर्वर साहित्यकार की सृजनात्मक कसौटी यह है कि वह विकृत तथ्यों को कलात्मक रूप प्रदान करे। हम दो संसारों के बीच खड़े हैं, एक मृत है और दूसरा जन्म लेने में असमर्थ।

आज का साहित्यकार मूल्यहीन मानव की मूर्खता और उसके अनाचार का चित्रण कर रहा है, वास्तविकता तो है परन्तु काव्य सत्य नहीं है। आज के विघटित मानव की पुकार है––

ऐसा कहीं कोई नहीं है।
जो मुझे पूरी तरह समझ सके।

नारों के खोखलेपन और योजनाओं के घोटाले, जांच रिपोर्टों के नमूने इस ओर संकेत करते हैं, तंत्र दिशाहारा है और जन साधारण अधिक सर्वहारा होता जा रहा है। जनमत की चढ़ी नदी में सड़ा हुआ क कुछ नहीं कर सकता, फिर मनुष्य ने चाहा कि मैं ईश्वर की जगत-सर्वनियन्ता बनूं। ऐसा स्थानापन्न मनुष्य धीरे धीरे अपने अस्तित्व के प्रति शंकालु हो गया। अपने आस पास वह अजनबी, वेहूदा और संत्रासमयी दुनि देखने लगा। वह विद्रोही हो गया, उसने सभ्यता के परदों को झटके से उतार फैंकने का कार्य आरम्भ किया, "शॉक ट्रीटमेंट" था, साहित्य अब नग्न, विराट किसी नांगे साधू के रूप में प्रकट हुआ। सितम्बर, 1964 भूखी पीढ़ी के पांच कवियों को अश्लीलता के आरोप में गिरफ्तार कर लिया था। वह सतही विद्रोह ठप्प हो ग स्थिति आई-शरीर के भीतर ही थूकने की। परन्तु इसमें भी भावपरिवर्तन स्वाभाविक है। विघटित आदमी गुस्सा जंगली सुअर की तरह तेजी से सीधे ही दौड़ कर गुजर जाता है, शिकार का कुछ नहीं बिगड़ता। कटु खत्म हो जाती है, नफरत भी बासी पड़ जाती है, परन्तु तब तक दिमाग निचुड़ चुका होता है।'

'मैं सोचता हूं हम भटकी राहों में हैं, जहां मृतकों ने अपनी अस्थियों के अवशेष छोड़ दिए हैं।'

—वेस्टलैंड

विघटित और विखण्डित मनोभूमि का वर्णन करने से वाणी स्वयं को दीन समझती है—

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीनता।
कहने में अर्थ नहीं,
कहने पर व्यर्थ नहीं,
मिलती है कहने में,
एक तल्लीनता।

—भवानी प्रसाद मि

राजकीय मुद्रणालय, हि0 प्र0, शिमला—781-ए0 सी0 एल0/78—29-6-78—500.

कांगड़ा मित्र मण्डल द्वारा श्री यशपाल जी का स्वागत। उनके साथ हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री इला चन्द्र जोशी खड़े हैं। (1953)

श्री यशपाल श्री मेहर चन्द महाजन के साथ, बाईं ओर श्री देसराज डोगरा, प्रमुख मन्त्री, कांगड़ा मित्र मण्डल बैठे हुए। (1955)

H. A. A. C. L. आर0एन0 28271/75.

1. निदेशक, शिक्षा विभाग, हि0प्र0 द्वारा पत्राङ्क ई0डी0एन0एच0 (8)-6 (3) 1/75, 24 फरवरी, 1975 के अनुसार प्रदेश के समस्त कालेजों, पाठशालाओं तथा जिला पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत ।

2. निदेशक, पंचायती राज विभाग, हिमाचल प्रदेश द्वारा पत्र संख्या 7-3/66 पंच-3, दिनांक 21 जुलाई, 1977 के अनुसार प्रदेश के समस्त खण्ड विकास तथा पंचायत पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत ।

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परीमहल, शिमला-9 द्वारा प्रसारित तथा ... प- ... मुद्रण तथा ...खन सामग्री, हि... देश, शिमला-3 द्वारा मुद्रित ।